अर्हम् श्री सद्गुरुभ्यो नमः

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाल-पुष्प-३०

अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता



गुजराती लेखक

श्रीमद् बुद्धिसागरजी सूरीश्वर

अनुवादक

कांचमल सीपाणी

श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, दादवाड़ी, अजमेर

प्रकाशक :

चांदमल सीपाणी, मंत्री
श्री जिनदत्तसूरि मण्डल
दादावाड़ी, अजमेर

❁

आवृत्ति-प्रथम :

प्रति—१०००
वि० सं०—२०३६
ई० सन्—जनवरी, १९८०

❁

मूल्य :

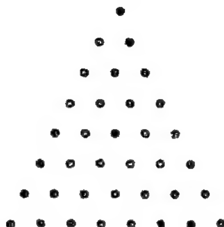
रु० चार पै० पचास

❁

मुद्रक :

श्री शिरीशचंद्र शिवहरे
फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,
श्रीनगर रोड, अजमेर (राज०)

समर्पण



उन महान् अध्यात्मज्ञानी मुनिवरों को जिन्होंने
अध्यात्मज्ञान की ज्योति प्रकटाकर
जन कल्याण किया।

अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता
(हिन्दी)



अध्यात्मज्ञान के गूढ़ार्थ को समझने के लिए इस उपयोगी पुस्तक का गुजराती से हिन्दी अनुवाद श्री चांदमलजी सीपाणी ने उत्साह तथा लगन पूर्वक समर्पण भाव से सरल हिन्दी में किया जिसको श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर ने प्रकाशित किया है।

अध्यात्मज्ञान यह जीवन के उन्नति पथ पर आगे बढ़ने के लिए अमृत के समान है। प्रत्येक आत्मार्थी बंधुओं को इसकी महत्ता समझने के लिए इस पुस्तक का अध्ययनकर लाभ उठाना चाहिए ऐसी मेरी विनम्र प्रार्थना है।

गोपीचन्द धाड़ीवाल
बी.एससी., एलएल.बी.
अजमेर

दिनांक १९-१-८०



प्रकाशक के दो शब्द

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला का ३०वा पुष्प आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस ज्ञानमाला द्वारा कई आध्यात्मिक व तात्त्विक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हे जिनका समाज मे समुचित आदर हुआ है। उसी कडी मे यह 'अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता' नामक पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

"कर्तव्य" नामक पुस्तक मे लेखक ने कहा है कि—"ग्रन्थ यह एक जीवित आवाज है, यह पृथ्वी की सतह पर चलती एक आत्मा है।" मानव चला जाता है, स्मरणचिह्नरूपी गृह स्तम्भ आदि गिर कर मिट्टी बन जाते है। परन्तु जो कुछ बच रहता है और अपने जीवन के बाद भी टिका रहता है वह मनुष्य विचार है। प्लेटो की मृत्यु हुए तो लम्बा समय हो गया परन्तु उनके विचार और काम आज भी जीवित हैं। कुग्रन्थ विष के समान है और वे दुष्ट परिणाम फैलाते रहते हैं। हानिकर ग्रन्थकार कब्र मे सोते है और साथ-साथ पीढी दर पीढी भविष्य की प्रजा को आघात पहुचाते हैं। अच्छे ग्रन्थ जीवन के लिये रत्न के खजाने के समान हैं और कुग्रन्थ पीडाकारक राक्षस के समान है। अच्छे ग्रन्थ प्रमाणिकता, सत्यता सदाचार और ईमानदारी की शिक्षा देते है। लेखक चले जाते हैं परन्तु उनके लिखे ग्रन्थ कायम रहते हैं। महान् विचारो का अन्त नही होता, वे सैकडो हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी पुस्तकरूप मे उतने ही ताजे रहते हैं जैसे उस समय थे। 'सदवतन' पुस्तक मे हागलिट कहते हैं कि "पुस्तकें अपने हृदय ग्रन्थी के साथ जुड जाती हैं। अच्छी पुस्तकें अपने

मित्र के समान हैं। शेक्सपियर आदि महान् लेखकों के अवसान के बाद भी आज उनके विचार वैसे के वैसे जीवित है।"

सब ही पुस्तकों में अध्यात्मशास्त्र महान् शास्त्र गिना जाता है। अध्यात्मशास्त्र की सम्यग्रूप से उपासना कर उन्हें आचार में लाया जाय तो इच्छित फल की प्राप्ति हुए विना नहीं रहती।

इसी हेतु को लक्ष में रखते हुए अध्यात्मप्रेमी व जैन धर्म के प्रति निष्ठावान श्रा. श्री गोपीचंदजी सा. धाड़ीवाल की प्रेरणा से उन्हीं के अर्थ सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। श्री धाड़ीवालजी सा. का कहना है कि जैन धर्म में व्यवहारमार्ग बताने वाले बहुत ग्रन्थ है और उनके प्रचार-प्रसार के साथ अध्यात्मज्ञान के ग्रन्थों का भी प्रचार-प्रसार होना जरूरी है। हम श्री धाड़ीवालजी सा. की इस उदारता, प्रेरणा एवं आर्थिक सहयोग के लिए अत्यंत आभारी है व गुरुदेव से उनके दीर्घायु की कामना करते हुए विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता व्यक्त करते है।

आशा है अध्यात्मप्रेमी इस पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़कर इससे लाभ उठावे इसी अभिलाषा के साथ।

चाँदमल सीपाणी
मंत्री
श्री जिनदत्तसूरि मण्डल
दादावाड़ी, अजमेर

१६-१-१६८०

परमात्मा स्तोत्रं

शिव शुद्ध बुद्ध पर विश्वनाथ ।
न देव न बधुर्नकर्म न कर्त्ता ।।

न अग न सग न इच्छा न काय ।
चिदानन्द रूप नमो वीतराग ।। १ ।।

न बंधो न मोहो न रागादि लोक ।
न जोग न भोग न व्याधिर्नशोक ।
न क्रोध न मान न माया न लोभ च ।। २ ।।

न हस्तौ न पादौ न घ्राण न जिह्वा ।
न चक्षुर्नकर्ण न वक्त्र न निद्रा ।
न स्वाद न स्वेद न वर्ण न मुद्रा ।। चि । ३ ।

न जन्म न मृत्यु न मोह न चिन्ता ।
न क्षुत्तृट् न भीत न कृष्य न तुंदा ।
न स्वामी न भृत्य न देवो न मर्त्या ।। चि । ४ ।

त्रिदंडे त्रिखंडे हरे विश्व व्याप ।
हृषिकेश विद्ध श कर्म्मादि जाल ।
न पुण्य न पाप न अक्ष्या न प्राण ।। चि । ५ ।

न बाल्य न वृद्ध न विद्धिन्नमूढा ।
न छेद न भेद्य न मूर्त्तिर्नमीहा ।
न कृष्ण न शुक्ल न मोह न तन्द्रा ।। चि । ६ ।

न आद्यं न मध्यं न मंत्यं न मन्या ।
न द्रव्यं न क्षेत्रं न दृष्टोनभव्या ।
न गुर्वो न शिष्यो न अद्यो न दीनं ।। त्रि । ७ ।

इदंज्ञान रूपं स्वयं तत्ववेही ।
न पूर्णा न शून्यं स चैतन्यरूपं ।
अन्योत्रित्रिणं नपरमार्थ मेकं ।। त्रि । ८ ।

आत्माराम गुणां करं गुणनिधिश्चैतन्य रत्नाकरं ।
सर्वे भूत गतागते सुख-दुख भाता त्वया सर्वगं ।।

त्रैलोक्याधिपति स्वयं स्वमन सध्यायंति योगेश्वराः ।
वंदेतं हरिवंश हर्ष हृदय श्रीमान भूदर्च्यंतः ।।



नमस्कार स्तोत्र

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनं ।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनं । १ ।
दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधुनां वदनेन ।
च नतिष्ठति चिरपापं, छिद्रहस्ते यथोदकं । २ ।
दर्शनं जिन सूर्यस्य, समारब्धांत नाशनं ।
बोधनं चित्त पद्मस्य, समस्तार्थं प्रकाशकं । ३ ।
दर्शनं जिनचन्द्रस्य, सद्धर्मामृत वर्षनं ।
जन्मदाह विनासाय, वृद्धणं सुख वारिधे । ४ ।
जिनेभक्ति जिनेभक्ति दिने-दिने ।
सदा येस्तु सदा येस्तु, सदा येस्तु भवे भवे । ५ ।
नहित्राता नहित्राता, नहित्राता जगत्रये ।
वीतराग समोदेवो, न भूतो न भविष्यति । ६ ।
अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेवशरणं मम ।
तस्मात सर्व प्रयत्नेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वर । ७ ।
वीतराग मुखं दृष्ट्वा, पद्मराग सम प्रभ ।
नैक जन्म वृत पाप, दर्शनेन विनश्यति । ८ ।
अर्हंतो मंगलं नित्य, सिद्धा जगति मंगलं ।
मंगलं साधवो मुख्य, धर्म्म, सर्वत्र मंगलं । ९ ।
लोकोत्तमा इहर्हित, सिद्धा लोकोत्तमा सदा ।
लोकत्तमोय तीगाना, धर्मो लोकोत्तमोर्हता । १० ।
शरणं सर्व्वदार्हंत, सिद्धा शरणं मंगला ।
साधव शरणं लोके, धर्म्मशरणमर्हंता । ११ ।

—o—

आमुख

इस अनादि संसार में मुख्यतया हरएक प्राणी का क्रमिक विकास होता आया है; सूक्ष्म निगोद से लेकर बादर निगोद, पृथ्वी-अप-तेजस् वायु और वनस्पतिकायादि अनेक परिस्थितयों में से होता हुआ विकलेंद्रिय और तिर्यंच पंचेंद्रिय अवस्थाओं का उल्लंघन करने के बाद **उपमिति भव प्रपंचा** के कथाकार के अनुसार **'उच्चावचेषु गेहेषु भ्रांत्वा भ्रांत्वा निषीदतः'**—अर्थात् ऊंच नीच अनेक स्थानों में-गतियों में भटक भटक कर दुर्लभ मानव जीवन प्राप्त करता है। इस मानवजीवन में भी आर्य-क्षेत्र पंचेंद्रिय पूर्णता, सद्‌गुरुयोग और वस्तुधर्म की पहिचान आदि प्राप्त करना बहुत कठिन है; ऐसा मानव जन्म मिलने पर उसे स्वीकार कर, बहिरात्मभाव छोड़ अन्तरात्मभाव में स्थिर हो शुभाशुभ संयोगों में तटस्थ दृष्टा बन जाना चाहिए और सम्यग्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और ध्यान मार्ग में प्रति-दिन प्रगति करना चाहिए। यह प्रगति ही मानव जीवन को सफलता है। इस सफलता के लिए अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता है वह अध्यात्मशास्त्र से प्राप्त होता है। परंतु अध्यात्मज्ञान प्राप्ति के साथ २ उसे आचरण में लाया जाय तब ही उसकी सार्थकता है। 'अध्यात्म' यानी आत्मा का ध्यान और उससे जीव-अजीव, जड़-चेतन का भेदज्ञान हो जाय तब ही समझना कि अध्यात्मज्ञान हुवा है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता पर विवेचन करते हुए जो प्रकाश डाला है उनमें से उसके थोड़े से वाक्य प्रस्तुत किये जाते है जिससे अध्यात्मज्ञान सम्बंधी थोड़ी बहुत झांकी मिल सकेगी।

(१) हे भव्य जीवो ! अध्यात्मज्ञान यह कभी नही कहता कि तुम प्रतिक्रमण मत करो, वरन् अध्यात्मज्ञान तो प्रतिक्रमण के अध्यवसायो को पैदा करता है। वास्तविकता मे तो यह है कि प्रतिक्रमण किये बिना कोई जीव मोक्ष गया ही नही है।

(२) अध्यात्मज्ञान और शुभाचार रूप चारित्र दोनो ही तो दूध मे शक्कर मिले जैसा है। अध्यात्मज्ञान होते यदि व्रत-पच्चक्खाण न हो तो यह कर्म का दोप है, अध्यात्मज्ञान का नही।

(३) कुछ लोग कहते है कि इस काल मे अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती, इसकी प्राप्ति तो बारहवें गुणस्थानक मे होती है, ऐसे लोगो का कहना उत्सूत्रभाषण जैसा है। वास्तव मे चौथे गुणस्थानक से अध्यात्म की प्राप्ति शुरू हो जाती है।

(४) नवतत्त्वो का सातत्य से अभ्यास करने से अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(५) क्रियाओ की तरफ विचार करे तो क्रियाओ के सूत्रो मे भी अध्यात्मज्ञान भरा हुआ है। छै आवश्यक की क्रिया भी अध्यात्मज्ञान की ही मुख्यता बताती हैं।

(६) अध्यात्मज्ञान से विधि पूर्वक संवर की क्रियाएँ करने मे रुचि पैदा होती है और उसके अनुसार प्रवृत्ति होती है।

(७) सारे जगत् मे अध्यात्मज्ञान के द्वारा समानभाव का प्रचार किया जा सकता है, आर्यों की और आर्यावर्त की उन्नति के लिए अध्यात्मज्ञान की अति आवश्यकता है।

(८) अध्यात्मज्ञान के विना मन को वश में करने की भावना नहीं होगी, मन को स्थिर करने के असंख्य योग हैं।

(९) अज्ञानी जिन कर्मों का तप द्वारा करोड़ों वर्षों में क्षय करता है उन कर्मों को अध्यात्मज्ञानी तप द्वारा एक क्षण मे दूर करता है।

(१०) अध्यात्मज्ञान से अध्यात्ममार्ग गर्भित वैराग्य में, उत्सर्ग मार्ग में, अपवाद मार्ग में, व्यवहार मार्ग में, निश्चय मार्ग में, ज्ञान नय में और क्रिया नय में कदाग्रह नहीं होता।

सारांश यह है कि अध्यात्मज्ञान को प्राप्तकर, साधु होकर जो आत्मा की आराधना करते हैं ऐसे मुनिराज इस जगत् में अध्यात्मज्ञान का झरना वहाते है। अध्यात्मज्ञान के मूर्तिरूप मुनिराजों की सेवा करने से अध्यात्मज्ञान का आत्मा में परिणमन होता है—गुरु की सेवा भक्ति विना अध्यात्मज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है, यह वात लक्ष में रखना चाहिए।

अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अध्यात्मग्रंथों की आवश्यकता है ऐसा लक्ष रखकर हमें अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर धर्मक्रिया व्यवहार में दृढ़ रहकर तप-जप-व्रत-नियम और पच्चक्खाण का उपयोग करते रहना चाहिए यह वात लेखक ने स्पष्टरूप से वताई है। शुद्धव्यवहार के लिए अध्यात्मज्ञान की जरूरत है। अध्यात्मज्ञान प्राप्तकर चारित्रमार्ग में प्रवृत्ति करना ही उत्तम फल है।

दि० १-१-१९८०

चांदमल सीपाणी

अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता



अध्यात्मज्ञान का समावेश श्रो द्रव्यानुयोग मे होता है। अध्यात्मज्ञान के दो भेद हैं। लौकिक अध्यात्मज्ञान और लोकोत्तर अध्यात्मज्ञान। लौकिक अध्यात्मज्ञान के माननेवाले एकान्तवादी होते है और अनेकान्तवादी लोकोत्तर अध्यात्मज्ञान को स्वीकार करते है। श्री वीरप्रभु ने समवसरण मे बैठकर लोकोत्तर अध्यात्मज्ञान का उपदेश दिया है और उसे गणधरो ने उठाया। गणधरो के शिष्यो की परम्परा से संस्कृत, मागधी, गुजराती आदि भाषा मे अध्यात्मज्ञान आया। अध्यात्मज्ञान का उपशम, क्षयोपशम आदि भाव मे समावेश होता है। काल के अनुसार अध्यात्मज्ञान तीर्थंकरो के प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-काल से ही है। द्रव्य की अपेक्षा आत्मा मे अध्यात्मज्ञान रहता है। क्षेत्र की अपेक्षा से पाच भरत, पाच एरवत और पाच महाविदेह इन पद्रह क्षेत्रो मे अध्यात्मज्ञान प्रगट होता है। भाव के कारण क्षयोपशमादि भाव प्रगट होते है। श्रुतज्ञान मे अध्यात्म-ज्ञान का समावेश होना है। योग्य मुनियो से अध्यात्मज्ञान ग्रहण किया जाता है। योग्य आत्माओ से अध्यात्मज्ञान ग्रहण किया जाता है। सच्चा अध्यात्मज्ञान वास्तव मे, भली प्रकार विधि पूर्वक ग्रहण किया जाता है। जो आसन्न भव्यजीव होते हैं उन्हे अध्यात्मज्ञान पर श्रद्धा और अध्यात्म-प्रवृत्ति होती है। पात्र की परीक्षा कर गुरु अपने शिष्यो को अध्यात्मज्ञान देते हैं। दुनिया मौजशोख मे प्रवृत्ति करती है और बाह्य पदार्थों के भोग और उपभोग मे आनद मानती है, परन्तु दुनिया के किसी मनुष्य ने अतिम समय मे बाह्य भोग से सतुष्ट होना नही

वताया है, दुनिया के पदार्थों में वृत्ति अनुसार सुख-दुख की कल्पना हुआ करती है। प्रोफेसर सेसिल ने कहा है कि "सच्चा धर्म आध्यात्मिक जीवन, आध्यात्मिक स्वच्छता और अध्यात्मिक शिक्षा है और जिस पुरुष में ये वास्तविक रूप में होते है उसे हरएक स्वच्छ और सत्कार्य के लिए खास उत्तेजन की पुष्टि मिलती है। और हम सवको इस दुनिया का त्याग करना है"। "मृत्यु सवको आती है, हम प्रतिदिन अपने दांतों से कब्र खोदते है" साइरस ने अपनी कब्र पर ये शब्द लिखवाये थे। "अरे मनुष्य! तू चाहे जो हो और चाहे जिस जगह से आता हो परन्तु ईरानी राज्य को स्थापित करने वाला मै साइरस हूँ! आज थोड़ी मिट्टी मेरे शरीर को ढक रही है उसकी ओर तू ध्यान दे।"

जिन मनुष्यो की अभिलापा असीम होती है और जो अंत में अपनी इच्छा पर मर्यादा रखकर देखता है उसके मन में निराशा आती है। अव अधिक राज्य जीतना वाकी नहीं रहे इस विचार से सिकन्दर रोने लगा। मोहम्मद गजनवी-भारत के प्रथम मुसलमान विजेता की भी यही स्थिति थी। उसे जव मालूम हुआ कि मै अव मरने वाला हूँ तव उसने रत्न और स्वर्ण के खजानों को अपने सामने रखने का हुक्म दिया। जव उसने उन खजानों को देखा तो वालक की तरह रोने लगा। उसने कहा "अरे! इन खजानों की प्राप्ति के लिए मैने कितना मानसिक एवं शारीरिक कष्ट उठाया है और इनकी सुरक्षा के लिए कितना प्रबंध किया है! और अव मैं मरने और इनको छोड़कर जाने की तैयारी में हूँ"। उसे उसके महल में दफनाया; जहा उसकी दुखी आत्मा भूत की तरह भटकती है ऐसी लोगो की धारणा है। इससे समझना है कि मनुष्य को

जिदगी वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए। सच्चा सुख तो वास्तव मे अध्यात्मज्ञान के विना प्राप्त नही होता। अध्यात्मज्ञान के विना मनुष्य अधकार मे सुख को ढू ढता है। अध्यात्मज्ञान द्वारा पूर्व मे अनेक महात्माओ ने सच्चा सुख प्राप्त किया है। इसलिए सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता सिद्ध होती है।

•

धर्म का मूल

दुनिया मे अध्यात्मज्ञानरूप धर्ममूल विना कोई भी दर्शनरूपी वृक्ष टिक नही सकता। आत्मिक ज्ञान हुए विना विषयो को जीता नही जा सकता। श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय अध्यात्मसार ग्र थ मे अध्यात्मज्ञान को सब प्रकार के ज्ञान मे उत्तम माना है। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने भी अध्यात्मज्ञान की उत्तमता को स्वीकार किया है। अध्यात्मज्ञान से मन, वाणी और काया के योग की शुद्धता होती है। जगत् मे चितामणि रत्न समान अध्यात्मज्ञान है, अध्यात्मज्ञान के कारण ही भारतदेश उत्तम गिना जाता है। पाश्चात्य देशो मे बाहरी विद्या के कारण बाह्य उन्नति दीखती है, किन्तु आतरिक उन्नति के अभाव मे दया आदि के सिद्धातो का विशेष प्रमाण मे प्रचार नही हुआ। जब जब अध्यात्मज्ञान से लोगों की वृत्ति हटी है और अध्यात्मज्ञान के स्वरूप को समझने वालो पर तिरस्कार भाव आया है तब तब भारत मे युद्ध, क्लेश और कुसप के बादल मडराये हैं। मनुष्यो का अध्यात्मज्ञान मे प्रवेश होना महा कठिन है। कितने ही अध्यात्मज्ञान का खण्डन करते है उसका कारण यह है कि उन्होने अध्यात्मज्ञान का आस्वादन नही किया है। कितने ही मनुष्य किसी अध्यात्म आराधक मनुष्य के दुराचरण

को देखकर ऐसा कहने लगते है कि "अध्यात्मज्ञान वा निश्चयवादी होने से भ्रष्ट होना पड़ता है"। परन्तु इस प्रकार कहने वालों को उत्तर मे कहना पड़ेगा कि आचार और सुविचार से भ्रष्ट होने में अध्यात्मज्ञान अपनी शक्ति काम में नहीं लेता। **अध्यात्मज्ञान से तो दुराचार और भ्रष्ट विचार का नाश होता है फिर भी कोई दुराचार और मलिन विचार वाला हो तो इसे कर्म का उदय समझना।** मोहनीय कर्म का जोर विशेष होता है। और अध्यात्मज्ञान का वल अल्प होता है तो मोहनीय कर्म के वश में मनुष्य फंस जाता है। कितने ही मोहनीय कर्म के उदय से अध्यात्मज्ञान का—निश्चय का आदर नही करते और अध्यात्मज्ञान का तिरस्कार करते है। ऐसे भी अनाचारी, भ्रष्टाचारी, क्रोधी, निंदक, क्लेश करने वाले और **अशांति फैलाने वाले होते हैं तो इसमें व्यवहार-धर्म का दोष नहीं है।** व्यवहार चारित्र से अनीति, मन, वाणी और काया के दोषों का नाश होता है, फिर भी व्यवहारचारित्र-क्रिया को एकान्तरूप में मानने वाले में अनीति का आचरण देखने मे आता है इसमें क्रिया व्यवहार का दोष नहीं गिना जायगा, परन्तु उस व्यवहारचारित्र धारक को प्रमाद ही दोषरूप है, वैसे अध्यात्मज्ञानी को प्रमाद होने से वह दोषी गिना जा सकता है परन्तु अध्यात्म या निश्चयज्ञान को दोषी नही कहा जा सकता।

क्रिया शुद्धि

कितने ही कहते है कि अध्यात्मज्ञान का अभ्यास करने से क्रिया पर श्रद्धा या रुचि नही रहती। **ऐसा कहने वाले अध्यात्मज्ञान या क्रिया का स्वरूप स्पष्टता से नहीं समझे हैं।** वास्तव में अध्यात्मज्ञान विना धर्म क्रियाओं का रहस्य स्पष्ट रूप

से नही जान सकते। अध्यात्मज्ञान विना धर्म की क्रिया करने से, वाणी और काया के योग की शुद्धि करने के लिए कोई भी मनुष्य समर्थ नही होता। अध्यात्मज्ञान का स्वरूप जो समझते है उनके हृदय मे शानरस प्रकट होने की आशा रहती है, परन्तु जो अध्यात्मज्ञान पर द्वेष कर उसका खडन करते है उनके हृदय मे शातरस की भावना प्रकट न होकर निंदा, हाय-तोबा, वितडावाद और कषाय की वृत्ति दिखाई दे तो इसमे कोई आश्चर्य नही।

अध्यात्मज्ञान और जैनागम

जैन दर्शन मे बडे बडे विद्वान हो गये है उनकी पुस्तके पढते है तो उनसे अध्यात्मज्ञानरस का बोध होता है। श्री कुदकुदाचार्य जो दिगम्बर आचार्य कहे जाते है, उनमे प्राय माध्यस्थ गुण दिखाई देते हैं परन्तु अध्यात्मज्ञान के प्रताप के कारण ही। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य और देवेद्रसूरि के हृदय भी अध्यात्मज्ञान रग मे रगे हुए थे। पन्नवणा सूत्र के कर्ता श्यामाचार्य अध्यात्मज्ञान रग मे रगे हुए थे। पन्नवणा सूत्र मे द्रव्यानुयोग की बहुत व्याख्या आती है। द्रव्यानुयोग को भी अपेक्षा से अध्यात्मज्ञान कहा जाता है। द्रव्यानुयोग के ज्ञान विना अध्यात्म ज्ञान मे नही उतरा जा सकता। भगवतीसूत्र मे भी विशेष रूप से द्रव्यानुयोग और अध्यात्मज्ञान की व्याख्या देखने मे आती है। आत्मा के सम्बन्ध मे जो-जो कहा गया है उन सबका अध्यात्मज्ञान मे समावेश होता है। आत्मा मे रहे मति आदि पाच प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन करने वाली पुस्तको का भी अध्यात्मशास्त्र मे समावेश होता है। कर्मग्रथ, कम्म-पयडी आदि ग्रथो से भी आत्मा का स्वरूप समझ मे आता है, इसलिए उन ग्रथो का भी अध्यात्मशास्त्र मे समावेश किया

जा सकता है। आचारांगसूत्र, सूयगडांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, उत्तराध्ययन, नंदीसूत्र, कल्पसूत्र, अनुयोगद्वार, विशेषावश्यक आदि पैतालीस आगमों मे जहाँ-तहाँ अध्यात्मज्ञान झलक रहा है। श्री हरिभद्रसूरिकृत योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिंदु आदि ग्रंथों में अध्यात्मज्ञान उछलता दिखाई देता है। श्री उमास्वातिवाचक के तत्त्वार्थसूत्र और प्रशमरति प्रकरण आदि ग्रंथों मे अध्यात्मज्ञान भरा हुआ है। जैन श्वेताम्बर शास्त्रों में अध्यात्मज्ञान का रस वहुत भरा पड़ा है। श्रीमान् मुनि सुंदरसूरिजी ने अध्यात्मकल्पद्रुम की रचना कर अध्यात्मज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है; ऐसा सिद्ध कर दिया है।

वर्तमानकाल में अध्यात्म की आवश्यकता

अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति इस काल में हो सकती है कि नहीं यह देखना है। कितने ही बालजीव कहते है कि, "इस काल में अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति तो बारहवें या तेरहवे गुणस्थानक में होती है।" इस तरह कहने वाले—उत्सूत्र भाषण करने को तैयार होते हैं। श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय अध्यात्म ग्रंथ में कहते है कि **"चौथे गुणस्थानक से अध्यात्म की प्राप्त होती है।"** जड़ और चेतन का भेद मालूम हो इस प्रकार के ज्ञान को भेदज्ञान कहते हैं। भेदज्ञान कहो या अध्यात्मज्ञान कहो, सारांश यह है कि अध्यात्मज्ञान या भेदज्ञान एक ही है, चौथे गुणस्थानक से अधिक पांचवे गुणस्थानक में विशेष प्रकार से अध्यात्मदृष्टि खिल सकती है। पांचवें गुणस्थान से छटे गुणस्थान में अधिक अध्यात्मदृष्टि खुलती है। छटे से अधिक सातवे में विशेष प्रकार से अध्यात्मदृष्टि खिल सकती है। मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ और कारुण्य भावना तथा अनित्यादि वारह भावनाओ का भी

अध्यात्मज्ञान मे समावेश होता है, मनोगुप्ति का अध्यात्म मे समावेश होता है। इस काल मे गुप्ति की साधना के लिए शास्त्रो मे कहा है। मनोगुप्ति की साधनारूप अध्यात्म चारित्र इस काल मे किसी सीमा तक है, इसकी जो बकवाद करते है वे उत्सूत्र भाषण करते हैं। **इस काल मे सातवें गुणस्थानक तक पहुँचा जा सकता है।** आत्मा के अध्यवसाय की शुद्धि ही आतरिक अध्यात्मचारित्र है। **अध्यात्मज्ञान का अभ्यास कर अध्यात्मचारित्र प्राप्त करना चाहिए।**

नवतत्त्व का—सात नय से अभ्यास करने से अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नवतत्त्व के ज्ञान को अध्यात्मज्ञान ही कहा जाता है। उपमितिभव-प्रपच ग्रन्थ मे अध्यात्मज्ञान की मस्ती ही देखने मे आती है। उपमितिभव प्रपच ग्रन्थ के लेखक इस पचम काल मे ही हुए है। श्रीमद यशोविजयजी उपाध्याय 'निश्चय दृष्टि चित्त धरीजे, पाले जे व्यवहार' इस वचन से अध्यात्मज्ञान रूप निश्चय दृष्टि धारण करने की इस काल मे मनुष्यो को शिक्षा देते है, जिससे इस काल मे चौथे गुणस्थानक से अध्यात्मज्ञान की साधना को साधा जा सकता है ऐसा निश्चय होता है।

जैन श्वेताम्बर वर्ग मे **अध्यात्मज्ञान को विशेष रूप से प्रकाश मे लाने वाले श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय हैं।** अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्म परीक्षा, आदि ग्रन्थो के प्रणेता को सम्पूर्ण श्वेताम्बर जैन समाज पूज्य दृष्टि से देखता है। **उन्होने जिस रीति से व्यवहार किया कि पुष्टि की है उसी के अनुसार अध्यात्मज्ञान की भी पुष्टि की है।** और इस काल मे अध्यात्मज्ञान की गुणस्थानक की अपेक्षा से प्राप्ति हो सकती है इसे स्वीकार किया है, जिससे अब अध्यात्मज्ञान को निश्चित मत कहकर

कितने ही एकान्त रूप में व्यवहारनय को ही मानते है उन्हें भी अध्यात्मज्ञान स्वीकार किये विना छुटकारा नहीं। एकान्त व्यवहारनय को ही मानने से मिथ्यात्व लगता है, वैसे एकान्त निश्चयनय की व्याख्या सुनकर भड़कना नहीं चाहिए। व्यवहार और निश्चयनय को माने विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। अध्यात्म शास्त्र अपना कार्य करते हैं। क्रिया की शैली वताने वाले आचारांगादि शास्त्रों की जितनी आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता को सिद्ध करने वाले अध्यात्म शास्त्र हैं। ज्ञान विना क्रिया की सिद्धि नहीं होती। "प्रथम ज्ञान और पीछे क्रिया करनी चाहिए।" ऐसा कहने में गम्भीर रहस्य है। क्रियाओं के रहस्य को समझे विना क्रियाओं में मनुष्य को रस नही आता और क्रियाओं का सम्यक्रूप में आचरण भी नहीं कर सकते, इसलिए प्रथम क्रिया का ज्ञान करने पर ही धर्म की क्रियाओं में सरसता का अनुभव होता है; इत्यादि अनेक हेतु से ज्ञान को प्रथम श्रेणी में रखा गया है। **आत्मा को लक्ष्य में रखकर अर्थात् आत्मा की शुद्धि के लिए हरएक धार्मिक क्रिया की जाती है, इसीलिए पहले आत्मा को जानना चाहिए,** जिस आत्मा को लक्ष्य में रखकर धर्म क्रियाये की जाती हैं उस आत्मा के स्वरूप को नहीं समझा जावे तो 'वर विना की वरात' की तरह क्रियाओं का फल वरावर नही हो सकता और किसके लिए कौन किस कारण से क्रिया करता है, इत्यादि समझ मे नहीं आवे तो तध्धेतु और अमृत क्रिया की प्राप्ति नही हो सकती, इसलिए प्रथम आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए अध्यात्मज्ञानधारक शास्त्रों की और आत्मज्ञान की अनंतगुणी आवश्यकता सिद्ध होती है, इस सम्वन्ध में शास्त्र प्रमाण का युक्ति से विचार किया जाता है।

अध्यात्मशास्त्रो की उपयोगिता

आत्मज्ञान से दुनिया मे शाति फैलती है। अध्यात्मज्ञान से मनुष्य आत्मा की तरफ झुकता है और बाह्य उपाधि का साथ छोडता है। जगत् मे अध्यात्मशास्त्रो का प्रचार किया जाय तो मनुष्यो के आचार मे सुधार हो। आत्मा मे सुख है ऐसा अध्यात्मशास्त्र प्रतिपादन करते हैं और आत्मा का प्रभुत्व बताते हैं। जो शास्त्र आत्मा की शक्तियो का विकास करने को कहते है वे शास्त्र आध्यात्मिक सज्ञा से पहिचाने जाते हैं। आध्यात्मिक शास्त्रो से दुनिया मे भक्ति, प्रेम और दया के झरने बहते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किये बिना धर्म-मार्ग के प्रति दुनिया आकर्षित नही हो सकती। अनेक प्रकार के सद्गुणो को प्रगट करने की क्षमता अध्यात्मशास्त्रो मे है। प्राचीन आत्मकुलक ग्रथ मे लिखा है कि—

दम सम समत्तमित्ती-सवेय विवेय तिव्वनिव्वेया।
एएय गूढ अप्पावबोह बीयस्स अकूरा॥

"दम-शम-समत्व-मैत्री-सवेग-विवेक और तीव्र निर्वेद आदि गुण वास्तविकरूप मे अध्यात्मज्ञान के बीज के अकुर हैं"। इस गाथा से भी सिद्ध होता है कि अध्यात्मज्ञान की अत्यत आवश्यकता है। कितने ही मनुष्य जो अध्यात्मज्ञान का खडन करते है, फिर भी उनमे दया-भक्ति आदि गुण होते ह। इसका कारण यह है कि उनकी आत्मा मे श्रद्धा होती है परन्तु कितने ही कारणो मे अध्यात्म शब्द मे अरुचि होती है अध्यात्मशास्त्र मे बताये गुणो का सेवन करते हैं फिर भी अध्यात्मशास्त्र का खडन करते हैं। जैन दर्शनरूप पुरुष का प्राण अध्यात्मज्ञान है,

इससे पाठक सहज ही समझ सकेंगे कि, अध्यात्मशास्त्रों का अध्यात्मज्ञान का किसी भी तरह खंडन नहीं किया जा सकता।

चिलातीपुत्र ने उपशम, संवर, और विवेक इन तीनों का मनन करके मुक्ति प्राप्त की, इस पर विचार करने से इसमें भी अध्यात्मज्ञान ही मुख्य कारण मालूम होगा। आपाढाचार्य को नाटक करते केवलज्ञान हुआ इसमे भी अध्यात्म भावना ही मुख्य थी। भरत चक्रवर्ती को आरीसा भवन मे भावना भाते भाते केवलज्ञान हुआ इसमें भी आत्मविचारणा ही मुख्य थी। इलाचीपुत्र ने वांस पर नाचते हुए आत्मा की विचारणा से ही केवलज्ञान प्राप्त किया। छद्मस्थावस्था में श्री महावीर प्रभु ने आत्मा की पूर्ण श्रद्धा से और अध्यात्मज्ञान की प्रचुरता से ही अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन किये थे। श्री गौतमस्वामी आत्मविचारणा में लीन हुए तब राग के बंधन से मुक्त हो केवलज्ञान प्राप्त किया। गजसुकुमाल ने आत्मा की श्रद्धा से और आत्मा के सद्गुणों के विचारों से शारीरिक दुःख सहन किया था। आत्मज्ञान विना सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरि ने सम्मतितर्क में सम्यक्त्व के छः स्थानक और मिथ्यात्व के छः स्थानक बताये है उसमें आत्मा को लक्ष में रखकर ही छः स्थानक बताने से उनका अध्यात्मशास्त्रों मे समावेश होता है, और उस ज्ञान को अध्यात्मज्ञान कहा जा सकता है। कर्मग्रंथ में चौदह गुणस्थानक बताये है उस सम्बंध में विचार करे तो मालूम पड़ेगा कि चौदह गुणस्थानक भी आत्मा में ही रहे हुए है जिससे वह भी अध्यात्मज्ञान कहा जाता है। दृढप्रहारी को मुक्ति मिली इसमें भी आत्मस्वभावरमणतारूप अध्यात्मज्ञान ही मुख्य है। आचारांगसूत्र के लोकविजय अध्ययन में मुनि भाव से सम्यक्त्व बताया

है, उसका भी अध्यात्म भाव मे समावेश होता है। आत्मा की अस्तिता आदि—अध्यात्मज्ञान की सिद्धि होने पर साधु और साध्वियो को सुआचार का पालन करना चाहिए ऐसा सिद्ध होता है और इसी न्याय से आचारागसूत्र मे बताये आचारो की सिद्धि होती है।

विशेषत मन की शुद्धि की तरफ प्रयाण करानेवाला अध्यात्मज्ञान ही है। प्रसन्नचद्र राजर्षि को केवलज्ञान हुआ उसमे भी वास्तव मे अध्यात्मभावना ही मुख्य थी।

अध्यात्मज्ञान गर्भित आवश्यक क्रियायें

अब क्रिया की तरफ विचार करते है तो **क्रियाओं का सूत्रो मे भी अध्यात्मज्ञान ही भरा होता है,** ऐसा ज्ञात होता है। छै आवश्यक क्रियाये भी अध्यात्मज्ञान की मुख्यता से ही बताई गई है। छै आवश्यक क्रियाओ मे प्रथम सामायिक आवश्यक क्रिया के बारे मे विचार किया जाता है तो उसमे आत्मा के ज्ञान को हृदय मे स्थापित कर उन क्रियाओ को करना ऐसा सिद्ध होता है। इरियावहिया, तस्सउत्तरी और अन्नथ्यसूत्र की सिद्धि आत्मा के सद्गुणो को विकसित करने के लिए ही है। **ठाणेण मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि।** ये सूत्र आत्मा के गुणो मे प्रवेश कराने वाले होने से वे आध्यात्मचारित्ररूप ठहरते हैं। कितने ही **अध्यात्मज्ञान पर अरुचि करने वाले भी इन सूत्रो का उच्चार तो करते हैं,** इससे यह सिद्ध होता है कि, वे अध्यात्मज्ञान का व्यर्थ ही खडन करते है। लोगस्ससूत्र मे **आरुग्गबोहिलाभ समाहिवरमुत्तम दितु** इत्यादि शब्द अध्यात्म मार्ग की तरफ ले जाने वाले है। उत्तम समाधि की माग हरएक जैन प्रतिदिन करता है, फिर भी कितने ही समाधि को निश्चय मार्ग कहकर

जिसकी याचना करते है उसकी विराधना प्रारम्भकर अपेक्षाज्ञान और अध्यात्मज्ञान के व्यर्थ ही प्रतिपक्षी बनते हैं। **निश्चयनय का एकांत से खण्डन करने वाले अपने शास्त्रों का खण्डन करते हैं;** क्रिया करने का मुख्य हेतु भी यह है कि-मन, वचन और काया के योग की शुद्धि कर किसी भी तरह आत्मा के सद्‌गुणों को प्रकट करना। सामायिक आवश्यक अंगीकार करने वाले **करेमि भंते** पाठ को बोलते हैं, उस **करेमि भंते सूत्र में जैसे-जैसे गहरे में उतर कर देखते है वैसे-वैसे अध्यात्मतत्त्व की मस्ती का ही हृदय में अनुभव होता है।** चार निक्षेपा और एक नय से सामायिक का स्वरूप समझाया जाता है और सामायिक व्यवहार व निश्चय से बोली जाती है (उच्चरी जाती है)। सामायिक भी आत्मा से भिन्न नही है। सामायिक के लिए की जाने वाली बाह्यक्रिया भी आत्मा को लक्ष में रखकर की जाती है। आत्मा के बिना क्रिया हो नही सकती; इसलिए क्रिया का आधारभूत आत्मा ही सिद्ध होता है। **सामायिक क्रिया में अध्यात्मतत्त्व का रहस्य भरा हुआ है।** अध्यात्मज्ञान आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति के लिए की जाने वाली बाह्य क्रियाओं का निषेध नही करता। अध्यात्म-शास्त्र और अध्यात्मज्ञान अपना-अपना कर्तव्य स्वयं करते हैं और क्रियाओं के कार्य क्रियाओं को सौंपते हैं। कितने ही क्रियाओं के रागी भी करेमि भंते बोलकर सामायिकरूप आत्मा की आरा-धनारूप अध्यात्मभाव को भाते है, फिर भी अध्यात्म की तरफ अरुचि रखते है इसका एक मात्र कारण अज्ञान ही है। सामा-यिक पारते समय **सामाइयवयजुत्तो** कहते हैं उसमे भी वास्तव मे नारियल के अंदर खोपरा होता है उस तरह अध्यात्मभाव है। खान में व धूल में जिस तरह स्वर्ण के रजकण होते है वैसे सामाइयवयजुत्तो सूत्र में बहुत अध्यात्म तत्त्व भरा-हुआ है,

परन्तु सामायिक के स्वरूप को नही समझने वाले उसे नही देख सकते । सामायिक क्रिया हमेशा करनी चाहिये । सामायिक का अध्यात्मरस समझ मे आता है तब ही सामायिक करने की वास्तविक रसज्ञता प्रगट होती है और तब ही हृदय मे समताभाव प्रकट हो सकता है । सामायिक आवश्यक चारो खण्ड के लोगो को करने लायक है । समताभावरूप सामायिक आवश्यक करने वालो मे अनेक सद्गुण प्रकट होना चाहिए परन्तु जो गाडरिया प्रवाह की तरह पडकर अतर का अध्यात्मतत्त्व ग्रहण नही कर सकते वे आत्मा को ऊचा उठाने मे शक्तिशाली नही होते । भगवती सूत्र मे सामायिक को आत्मा कहा है । छ आवश्यक क्रियाओ मे अद्भुत रहस्य समाया हुआ है, उसका आचरण करने वाले यदि आत्मा को समझकर करते है तो उनकी आत्मा प्रतिदिन सुधरती जाती है और उनके उच्च चारित्र का असर दूसरो पर पडता है ।

अध्यात्मशास्त्र बाह्यक्रियाओ का निषेध नही करते, परन्तु अध्यात्म ज्ञानशून्य बाह्य क्रियाओ के करने वालो को अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपालम्भ देकर ज्ञान की आवश्यकता बताते है । अध्यात्मज्ञानी आत्मा के हित के लिए जिन-जिन आचारो का पालन करते हैं वे आचार योगिकरीत्या क्रियारूप ही होते हैं । अध्यात्मज्ञानियो की धार्मिक क्रियायें एकातवादी क्रियाजडो से अधिक उच्च और रसवाली होती है और जिससे वे रूढी के वश मे होकर गच्छभेद की क्रियाओ की भिन्नता से धार्मिक समाज मे विग्रह उत्पन्न नही कर सकती ।

प्राचीन तत्त्ववेत्ताओ ने अमुक देश-काल आदि के अनुसार अमुक क्रियाओ की व्यवस्था की है । उन क्रियाओ के उद्देश्य

को वे समझते है जिससे भिन्न-भिन्न आचारों के आचरण देख कर भी वे कदाग्रहवश होकर वाग्युद्ध शुरू नही करते, परन्तु बाद मे होने वाले मनुष्य मूल उद्देश्य के ज्ञान के अभाव में परस्पर कदाग्रह कर धर्म समाज में विग्रह उत्पन्न करते हैं। अध्यात्मज्ञान को प्राप्त करने वाले तो प्राचीन क्रियाओं के रहस्य को अच्छी तरह जान सकते हैं, जिससे वे रागद्वेष जिन आचारों से क्रियाओं से मंद होता है उस प्रकार वे करते हैं। **अध्यात्मज्ञानियों को क्रिया नहीं करना चाहिए ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता।** अध्यात्मज्ञानियों को अपने अधिकार के अनुसार अमुक क्रियाओ की आवश्यकता है। अध्यात्मज्ञानियों को गाडरिया प्रवाह की तरह क्रिया करने वाले और दोषों को नही छोड़ने वाले मनुष्यों की क्रियाओं की तरह अंधे होकर क्रियायें करने की रुचि नही होती। परन्तु समझकर क्रिया करने की प्रवृत्ति जरूर होती है। जिससे वे अमुक क्रियाये करते समय एकांत रूप से गाडरिया प्रवाह की तरह क्रिया करने वालों से जुदे हो जाते है; और जिससे एकान्त क्रिया जड़, अध्यात्मज्ञानियों को समझे विना क्रियानिषेधक ऐसे मनमाने विशेषण देने लगते है। अमुक अधिकार पर प्राप्त हुई क्रियाओं को समझ जाने पर भी करना नही, ऐसा अध्यात्मज्ञान कभी नही सिखाता। **धर्म की बाह्य क्रियायें—धर्म की उन्नति की क्रियायें या उपकार की क्रियायें—आदि क्रियाओं का निषेध कभी अध्यात्मज्ञान से नहीं होता।** अध्यात्मज्ञान से तो उलटे धार्मिक क्रियायें अच्छी तरह अधिकार के अनुसार की जा सकती है। अध्यात्मज्ञान से तो थोड़ीसी धर्म क्रिया भी बहुत फल देने वाली होती है। आध्यात्मिकज्ञान बाह्यक्रिया करते समय उसमे उपयोग करना सिखाता है। आध्यात्मिक ज्ञान से

वास्तव मे आत्मा शुद्ध परिणाम करने का कार्य करता है। धर्म की बाह्य क्रियाओ मे आध्यात्मिक ज्ञान नई शक्ति देता है। प्रत्येक धर्म क्रिया द्वारा आत्मा मे भावरस उढेलने वाला अध्यात्म ही है। अन्न खाते समय दात अपना काम करते हैं और अन्न पचाने का कार्य अतर की शक्ति करती है। इसी तरह आध्यात्मिक ज्ञान वास्तव मे आत्मा के गुणो की शुद्धता का काम करता है और बाह्य क्रियाये मन को अतर मे भटकने के लिए निमित्त कारण रूप होती हैं। **आत्मा के परिणाम की शुद्धि करना यही अध्यात्म ज्ञान का काम है और आत्मा के गुणों की शुद्धि होना यही अध्यात्म चारित्र है।** अध्यात्मचारित्र मे बाह्य धार्मिक क्रियाओ की निमित्तकारणता का नियम कदापि खडित नही किया जा सकता, वैसे ही आध्यात्मिकज्ञान बिना अतर के परिणाम की शुद्धि न हो तब बाह्य क्रियाये निमित्त कारणता को प्राप्त नही होती, ऐसा कहा जा सकता है।

साम्य

ऊपर बताये अनुसार विचार किया जाय तो अध्यात्मज्ञान और अध्यात्मचारित्र की अत्यन्त आवश्यकता है, यह सहज ही समझ मे आने वाली बात है। अध्यात्मज्ञान से दूसरो की आत्मा अपनी आत्मा के समान मालूम होती है और इससे अपनी आत्मा की तरह अन्य आत्माओ पर प्रेम और दया की जा सकती है तथा अन्य जीवो का भला करने मे आत्मा प्रेरित होती है। दूसरो की आत्मा की निन्दा अवहेलना करने से उनकी आत्मा को दुख होता है, जिससे उनकी हिंसा होती है ऐसा अध्यात्मज्ञान से मालूम पडता है। सम्पूर्ण जगत् के जीव अपने समान है ऐसा ज्ञान कराने वाला अध्यात्मज्ञान ही

है। यह मेरा है और यह तेरा है आदि भेदभाव को दूर कर अभेदभाव के मार्ग में प्रयास कराने वाला अध्यात्मज्ञान है। **अज्ञानरूप अंधकार का नाश करने वाला और अहं-ममत्व भावरूप बर्फ के पर्वतों को पिघलाने वाला और मनुष्यों के हृदय में स्वच्छ प्रकाश कराने वाला अध्यात्म ज्ञान रूपी सूर्य की जगत् को अत्यन्त आवश्यकता है।**

अध्यात्मज्ञान से पूर्वकाल में उदय

प्राचीन काल के मनुष्य अध्यात्मज्ञान में प्रवीण थे इसलिए वे बहुत सद्‌गुण प्राप्त कर सकते थे। प्राचीनकाल के मुनियों ने अध्यात्मज्ञान द्वारा आत्मा की शक्तियों को विकसित किया था ऐसा हम प्राचीन पुस्तकों के आधार से जान सकते है। अध्यात्मज्ञान मे ऐसी शक्ति है कि जिससे अनेक उपसर्ग सहन करके भी धार्मिक कार्य करने की योग्य शक्ति प्रकट होती है। आध्यात्मिक शक्तियों को प्रकट करने से आत्मा ऊंचे गुण-स्थानक में प्रवेश करता है और दुर्गुणो का त्याग करता जाता है।

कितने ही लोग ऐसा कहते है कि 'अध्यात्मज्ञान का अभ्यास करने से मनुष्यो की व्यवहार धर्म पर श्रद्धा नहीं रहती और वाह्य धार्मिक क्रियाओं पर प्रेम कम हो जाता है।' ऐसा कहने वाले सब बातो की जानकारी किए बिना एक दृष्टि से देखते है और कहते है। श्री हेमचन्द्रसूरिजी अध्यात्म-ज्ञान में निपुण थे और उन्होंने उस समय और अधिकार के अनुसार अपनी शक्तियों का उपयोग नृपबोध, उपदेश, धर्मो-द्धार, पुस्तक रचना आदि कार्यो में किया था। परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए श्री महावीर प्रभु ने तो सोलह प्रहर तक देशना

दी थी और व्यवहार धर्म तीर्थ की स्थापना की थी, अध्यात्म-ज्ञान-निष्ठ ऐसे श्रीमद् हरिभद्रसूरि और श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी ने अनेक पुस्तको की रचना की और उपदेश देकर धर्म सेवा की है। आत्मज्ञान को जानने वाले ऐसे श्रीकृष्ण और श्री श्रेणिक ने धर्म सेवा, धर्म भक्ति, शासन प्रभावना आदि बाह्य धार्मिक क्रियायें की थी और व्यवहार योग्य शौर्य, प्रेम, श्रद्धा आदि गुणो से दूसरो पर भी धर्म की छाप छोडी थी। सब प्रकार के ज्ञान मे उच्च अध्यात्मज्ञान कहा जाता है। आसन्नभव्य को अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

अध्यात्म शास्त्र आत्मिक धर्म का मार्ग बताते है और आत्मा मे प्रेम उत्पन्न हो ऐसी शिक्षा देते है। अध्यात्म शास्त्रो की उपयोगिता के सम्बन्ध मे जितना वर्णन किया जाय कम है। अध्यात्म शास्त्रो का अभ्यास कर दुनिया के लोग मोह का नाश करने का प्रयत्न करते है। और परभाव दृष्टि का पराभव करने मे समर्थ होते है। श्रीमान् मुनि सुन्दरसूरि महाराज ने अध्यात्म कल्पद्रुम नाम के ग्रन्थ की रचना कर भारत के लोगो का महान् उपकार किया है। अध्यात्मकल्पद्रुम को पढकर हजारो मनुष्य अपने व्यवहार को सुधारते है और अपनी आत्मा के सद्गुणो को विकसित करने के लिए समयानुसार भाग्यशाली बनते है। यह ग्रन्थ जब तक विद्यमान रहेगा तब तक पाठको को अपने विचार देने मे समर्थ रहेगा। दुनिया के बाह्य पदार्थो मे सुख नही है, वास्तविक सुख तो आत्मा मे है ऐसा देवदुंदुभि बजाकर अध्यात्म शास्त्र कहते है। अध्यात्मग्रन्थो को बनाने वाले जगत् मे दिव्य कल्पवृक्षो को बोते हैं और उसका फल वर्तमान काल की प्रजा की अपेक्षा भविष्यकाल की प्रजा को विशेषत मिलता है। वर्तमान काल मे

बने ग्रन्थों की महत्ता भविष्य काल के मनुष्य जान सकते हैं। वक्ता वर्तमान काल के मनुष्यों पर असर कर सकता है और ग्रन्थ तो भविष्य में विशेष असर करने में समर्थ होते हैं। **किसी भी प्रकार का ज्ञान दुनिया में बेकार नहीं है, फिर अध्यात्मज्ञान तो दुनिया में कभी बेकार हो ही नहीं सकता।** श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय तो जोर देकर कहते है कि—सब प्रकार के ज्ञान में अध्यात्मज्ञान श्रेष्ठ है। मदोन्मत्त हाथी जैसे अंकुश से वश में होता है वैसे चंचल मन भी अध्यात्मज्ञान से वश में होता है। मनरूपी पारे को मारने के लिए अध्यात्मज्ञानरूपी औषधी के समान अन्य कोई औषध नही है। पांचों इंद्रियां अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति करती हैं, परन्तु उन पर काबू पाने के लिए अध्यात्मज्ञान है। मनरूपी बंदर कभी अपने स्थान पर नहीं रह सकता, फिर भी उसे अध्यात्मज्ञान की सांकल से आत्मरूप घर में बांधा जा सकता है। आत्मसृष्टि में प्रवेश करने की इच्छा वालों को तो अवश्य अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जिसका आत्मा पर लक्ष नहीं है वह मोह को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। मन को वश में करने के उपाय बताने वाले शास्त्रों को अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। अन्य शास्त्रों में तो सामान्य बुद्धिमान पुरुष भी प्रवेश करते हैं, परन्तु सूक्ष्म बुद्धि के बिना अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश हो ही नहीं सकता। वैदिक धर्मवाले उपनिषद और भगवद्गीता को अध्यात्मशास्त्र कहते है और वे अध्यात्मशास्त्रों पर विशेष प्रेम रखते है। जैन शास्त्रों में सम्यक्रूप से अध्यात्मतत्त्व का विवेचन किया गया है।

विचारों से आचारों की उत्पत्ति

अध्यात्मशास्त्र पढ़ना यानी तुरंत अध्यात्मशास्त्रों के अनु-

सार आचरण हो जाय ऐसा मानना बडी भूल है। ज्ञान और आचार प्राय एकदम साथ उत्पन्न नही होते । प्रथम तो विचार उत्पन्न होते हैं। विचार जिस तरह के होते हैं उसी तरह के आचार उत्पन्न करने मे वे समर्थ होते हे। विचार आचार का कारण है। विचार विद्युत शक्ति से भी अधिक बलवान है। भिन्न भिन्न प्रकार के विचार मस्तिष्क मे उत्पन्न होकर अपने सस्कार छोडते है और वे अपने जैसे विचार उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं इसलिए मनुष्यो को बिना विवेक के चाहे जिस प्रकार के विचार नही करना चाहिए। शुद्ध विचार शुद्ध आचार उत्पन्न करने मे समर्थ होते है और अशुद्ध विचार अशुद्ध आचार उत्पन्न करते हैं जिन्हे अपना आचार सुधारना हो उन्हे मानसिक विचार-सृष्टि प्रतिपादक अध्यात्मशास्त्रो का अभ्यास करना चाहिए। आचार के मुख्य उद्देश्य को समझाने वाले अध्यात्मशास्त्र है। सुविचारो से सुआचार की प्रणालिकाए उत्पन्न की जा सकती हैं। श्रीमद् महावीर प्रभु ने केवलज्ञान के बल से साधु और श्रावक वर्ग योग्य भिन्न भिन्न आचारो का प्रतिपादन किया है। प्रथम कोई भी काम करना हो तो तत्सम्बधी प्रथम विचार मनुष्यो के वर्तमान काल मे दीखते है वह पूर्व विचारो का फल है ऐसा अध्यात्मशास्त्रो से विचारकों को मालूम हुए विना नही रहेगा। किसी भी मनुष्य का अशुद्ध आचार बदलना हो तो शुद्ध विचार उसके हृदय मे उत्पन्न किए विना ये नही बदलते। आचारो के नये नये भेदो को उत्पन्न कराने वाले विचार हैं। किसी भी जगह जाने के लिए मनुष्य रवाना होता है उससे पहले उसे विचार करना पडता है। श्रावक के आचार उत्पन्न होने से पूव विचारो का अस्तित्व जरूर होता है। विचारो को व्यवस्थित किए बिना अमुक

प्रकार के कार्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। शरीर और इद्रियों के बिना आचारों को मान्य नहीं कर सकते वैसे आत्मा के बिना विचार अर्थात् ज्ञान उत्पन्न नही होता। अध्यात्मज्ञान से यह सब समझ में आता है और आत्मा के सद्गुण प्राप्त करने की तरफ लक्ष जाता है। आत्मज्ञान से अच्छा सुख प्राप्त करने का विवेक जागृत होता है।

अध्यात्मज्ञान से विवेक

अध्यात्मज्ञान से अपना और दूसरों का विवेक होने से मोहवन में परिभ्रमण करने की प्रवृत्ति का नाश करने की प्रवृति होती है। इलाचीकुमार को वांस पर नाचते हुए केवलज्ञान उत्पन्न कराने वालो वस्तु वस्तुतः विचार करें तो अध्यात्मज्ञान ही सिद्ध ठहरता है। हृदय में धर्म के अपूर्व प्रेम को उत्पन्न कराने वाला अध्यात्मज्ञान है। गज-सुकुमाल मुनि को समता भाव में लाने वाला आंतरिक विचाररूप अध्यात्मज्ञान ही था। स्कंध मुनि के शिष्यो को समभाव में लीन कर शरीर का भान भुलाकर मुक्त कराने वाला अध्यात्मज्ञान था। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को शत्रु के प्रति समभाव में लाकर केवलज्ञान प्राप्त कराने वाला भावनामय अध्यात्मज्ञान था। जो-जो मुनि अध्यात्मज्ञान की उपासना करते है वे वाह्य दुनिया को स्वप्न समान क्षणिक मानकर, आंतरिक ज्ञानादि लक्ष्मी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कोई भी मनुष्य, अध्यात्मज्ञान के बिना मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, श्वासोच्छ्वास और प्राण का जैसा निकट का सम्बन्ध है वैसे आनद और अध्यात्मज्ञान का भी निकट का सम्बन्ध है। जल के बिना जैसे वृक्ष के सारे अवयवों

का पोषण नही होता जैसे अध्यात्मज्ञान के बिना आत्मा के सब गुणो का पोषण नही होता, सूर्य की किरणे अपवित्र वस्तुओं को पवित्र करने मे समर्थ है वैसे अध्यात्मज्ञान भी अपवित्र आत्मा को पवित्र करने मे सक्षम है। अध्यात्मज्ञान मे जन्म, जरा और मरण किसी भी हिसाब मे नही गिने जाते। सूर्य की किरणे चाहे जैसे बादलो मे से होकर पृथ्वी पर प्रकाश करने मे समर्थ होती है, वैसे चाहे जैसी आशाओ के बधनो को तोडने मे अध्यात्मज्ञान समर्थ है। अध्यात्मज्ञान रस के **नशे से जिनके हृदय आनंदित हुए हैं उन्हे, अन्य जड पदार्थो द्वारा सुख प्राप्त करने की रुचि नहीं रहती।** प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए हृदय की प्रेरणा होती है। मनुष्यो को सच्चा ज्ञान हो तो वे क्षणिक सुखो की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रपच नही करेंगे और आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेंगे।

क्रियायें करनी चाहिए

अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक सज्जनो को धार्मिक व्यवहार अर्थात् आचारो को नहीं छोडना चाहिए, अध्यात्मज्ञान अपनी दिशा बताता है परन्तु वे धर्मक्रिया के अनादर को सूचित नहीं करता। जो गुरु परम्परा से आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हे धर्मक्रियाएं करने मे स्थिरता के योग से विशेष प्रकार से रस आता है। अध्यात्मज्ञान के अभ्यासियो के आचार उत्तम होते हैं और उनकी आत्मा प्रतिदिन मोक्षमार्ग के प्रति प्रयाण करती है। **अध्यात्ममत परीक्षा ग्रथ मे श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय, शुष्क अध्यात्मी जो कि साधुओ के**

प्रतिपक्षी बनते हैं और व्रतों में धर्म नहीं मानते तथा साधुओं को नहीं मानते, उन्हें अच्छी तरह उपदेश दिया है। अध्यात्म-शास्त्र का अभ्यास करने वालों को अध्यात्मज्ञान में रस आता है जिससे वे अध्यात्मज्ञान का वर्णन करे यह स्वाभाविक है, परन्तु जिज्ञासुओं को समझना चाहिए कि धर्मक्रिया के व्यवहार का निषेध हो ऐसा उपदेश कभी नही करना चाहिए। एक दिन में किसी ज्ञानी की भी, एक समान परिणति नहीं रहती। अध्यात्मज्ञानियों की भी एक समान परिणति नही रहती। उच्च परिणाम की धारा से पड़ते हुए भी व्यवहार मार्ग शरणभूत होता है। **व्यवहार धर्म माने बिना निश्चय-धर्म की सिद्धि भी नहीं होती।** व्यवहारधर्म के अनेक भेद है इससे अधिकारी भेद से सर्व भेदो का ज्ञान करना चाहिए। व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य है; अध्यात्मज्ञान से जिन्होंने तत्त्वों के सूक्ष्म रहस्यों को जाना है वे, तीर्थंकर, गणधर आदि प्रतिपादित आवश्यकादि धर्माचरो का उत्तम रहस्य जान सकते है और जिससे वे उसी तरह प्रवृत्ति कर सकते है। **जैन शास्त्रों का गुरुपरपरा से ज्ञान प्राप्त कर जिन्होंने आत्म-तत्त्व की विचारणा की है वे निमित्त कारणरूप व्यवहार-धर्म की कदापि उत्थापना नहीं करते। अध्यात्मज्ञान में विशेष विचरण होता हो तब भी व्यवहार धर्म का उच्छेद नहीं करना।** कोई मनुष्य एम. ए. की कक्षा में गया हो, वह पहली पुस्तक नहीं पढ़ना—ऐसा पहली पुस्तक के अधिकारियों को नहीं कह सकता—एम. ए. की परीक्षा पास करने वालों को पहली पुस्तक की जरुरत नही है यह तो ठीक है, परन्तु इससे पहली पुस्तक को छोड़ देना ऐसा कहना योग्य नहीं कहा जा सकता; पहली पुस्तक पढ़ने वाले तो बहुत हैं, ऐसा सोचकर

कारण कार्य भाव की परपरा का नाश करने के लिए उपदेश नही देना—ऐमा अध्यात्मज्ञान के अभ्यासियो को सूचित किया जाता है। अनुभवी पुरुषो ने अध्यात्मज्ञान को कच्चे पारे के समान कहा है, इसलिए गुरुगम से अध्यात्मज्ञान को पचाकर हृदय मे उतारना चाहिए। कितनी बार जिनमे नीति के गुणो की योग्यता नही होती ऐसे मनुष्य अध्यात्मज्ञान की सीढी पर चढते है जिसमे उन्हे फायदा नही होता—पहली कक्षा मे पढने वाला दूसरी कक्षा मे न बैठकर छठी कक्षा मे बैठे तो वह दोनो तरफ से भ्रष्ट होता है इसमे कुछ भी आश्चर्य नही। अध्यात्म-ज्ञान के जो अधिकारी है उन्हे अध्यात्मज्ञान सिखाना चाहिए। पहली कक्षा मे पढने वाले विद्यार्थी एम ए पास विद्यार्थियो को मजाक करे और कहे की एम ए की कक्षा का ज्ञान व्यर्थ है तो उनके ऐसा कहने मे एम ए की कक्षा और उनका ज्ञान व्यर्थ नहीं हो जाता, वैसे व्यवहार मार्ग की प्रथम सीढी पर ही जो चढने योग्य है वे अध्यात्मज्ञानियो के सूक्ष्म बोध को नही समझ सकते और उन्हे गलत समझे इससे कोई अध्यात्मज्ञान के अभ्यासी गलत सिद्ध नही होते। इस पर से साराश यह लेना है कि—अध्यात्मज्ञान के अभ्यासियो को शुष्कता प्राप्त न हो और अध्यात्मज्ञान की निंदा न हो ऐसा उपयोग रखना चाहिए। ज्ञानियो के व्यवहार और आचारो मे और मूर्खो के व्यवहार और आचारो मे भिन्नता होती है, ज्ञानी के सदाचारो का बाल-जीवो को अनुकरण करना चाहिए, कितनी ही वार ऐसा होता है कि अध्यात्मशास्त्रज्ञान का थोडासा अभ्यास कर बाल-जीव अपनी एक टोली आध्यात्मिक नाम की बनाने का प्रयत्न करते है और व्यवहारमार्ग के भेदो की उत्थापना हो ऐसा उपदेश देते हैं, इससे वे अध्यात्मज्ञानी नही गिने जाते वरन् उलटा दूसरो के साथ झगडकर अध्यात्मज्ञान और शुद्ध व्यवहार से भी दूर हो जाते हैं।

अध्यात्मज्ञान से गच्छ को बांधा नहीं जा सकता। व्यवहारनय के अवलम्बन से टोला इकट्ठा कर व्यवहारधर्मनय का खण्डन करना यह वदतोव्याघात जैसा है, जैन धर्म का बंधारण, आचार, उपदेश और गुरु-शिष्य का सम्बंध, वंदन-पूजन इत्यादि सब की सिद्धि, वास्तव में व्यवहारनय को स्वीकार किए बिना नहीं होती। गुरु-शिष्य का सम्बंध, वंदन, पूजन, यात्रा, दर्शन आदि व्यवहारधर्म के आचारों का पालन करते हुए भी, व्यवहारधर्मनय का खण्डन कर निश्चय धर्म के विचारों का एकांत प्रतिपादन करना यह बात कभी सम्भव नही है। जो अपनी माता का स्तनपान कर बड़ा होने पर ऐसा कहे कि 'माता का दूध नहीं पीना" यह बात कैसे सम्भव हो, चाहे वह स्वयं दूध पीने का अधिकारी नहीं है परन्तु अन्य बालक तो हैं। बालकों को यदि दूध पीने को मना करें तो कैसा बुरा लगता है? व्यवहारधर्म के अनेक प्रकार के आचरणों को स्वीकार कर उत्तम अध्यात्मज्ञान मार्ग में प्रवेश किया जा सकता है। अध्यात्मज्ञान का स्वाद लेकर बाद में दूसरों को अधिकार योग्य धर्माचरणों का निषेध करने लगना! यह शास्त्र से तो क्या परन्तु नीति के मार्ग के भी विरुद्ध कार्य है—ऐसा कहा जा सकता है। अध्यात्मज्ञान के जिज्ञासुओं को नीति आदि व्यवहार का कभी त्याग नहीं करना चाहिए। शुष्क अध्यात्मज्ञान की धुन में उतर कर बाह्य विवेक—कर्त्तव्य से कभी भ्रष्ट नहीं होना चाहिए, इस पर सामान्य दृष्टान्त यहां बताया जाता है।

व्यवहार धर्म से भ्रष्ट होने वाले एक साधु का दृष्टांत

एक संन्यासी अद्वैतवाद के ज्ञान की धुन में खूब उतर

गया, उसे एक भक्त ने भोजन का निमन्त्रण दिया उससे पहले सन्यासी के पैर मे कीचड लगा हुआ था, इसलिए गृहस्थ भक्त ने कहा कि सयासी महाराज ! जरा अपने पैर साफ कर लो। सन्यासी ने कहा, ज्ञान गगा मे मैने पैर साफ कर लिए है। गृहस्थ समझ गया कि सन्यासी बिलकुल आचार से दूर हो गया है, इसलिए उसने सन्यासी को शिक्षा देने के लिए सन्यासी को अनेक प्रकार के मिष्ठान जिमाने के बाद खूब पकोडियाँ खिलाई और उसे एक कमरे मे सुलाकर ताला लगा दिया। कुछ समय बाद सन्यासी की नीद खुली और दरवाजा खोलने का प्रयत्न किया परन्तु दरवाजा नही खुला। प्यास से उसका मन आकुल-व्याकुल हुआ तब गृहस्थ ने कहा कि सन्यासी महाराज ! चिल्ला क्यो रहे हो ? सन्यासी ने कहा कि जल बिना मेरे प्राण चले जायगे। गृहस्थ ने कहा कि कीचड आदि जब ज्ञान गगा मे धो डालते हो तब पानी भी ज्ञान गगा मे क्यो नही पीते ? गृहस्थ के इस प्रकार युक्तिपूर्वक वचन सुनकर सन्यासी ठिकाने आया। इस दृष्टात का साराश यह है कि, कभी शुष्क अध्यात्मज्ञानी नही बनना, तथा शुष्क क्रियावादी नही बनना। इतना तो कहना आवश्यक है कि, क्रियाओ का ज्ञान प्राप्त किए बिना कितने ही मनुष्यो ने क्रिया के प्रति प्रवृत्ति की हो, परन्तु नीति के सद्गुण तथा उत्तम आचारो की कमी के कारण उनकी क्रियाओ को देखकर कितने ही सदिग्ध मनुष्य क्रिया मार्ग के व्यवहार से पराड्मुख होते है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर धार्मिक क्रियाओ का रहस्य समझते हुए क्रियाओ की अधिकारी भेद मे उत्तमता सम्बन्धी किसी प्रकार की शका नही रहती। अध्यात्मज्ञान से स्थूल और सूक्ष्म भूमिका मे अर्थात् अतर मे और बाहर मे उत्तम

प्रेम से धर्म प्रवृत्ति की जा सकती है। अध्यात्मज्ञान मे सब प्रकार की श्रेष्ठता जानकर सब ज्ञानियों ने उसे प्रथम श्रेणी में गिना है। अनेक प्रकार के अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास कर आत्मा को समझना—यही जगत् में मुख्य कर्तव्य है।

सम्यक्त्व प्राप्ति

जड़ और चेतन का भिन्न-भिन्न प्रकार से ज्ञान होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। स्थूल जड़ पर्यायों की अनित्यता और आत्मा से भिन्नत्व का निश्चय करने के बाद, पंडित मनुष्य अपनी आत्मा में ही आनन्द मानता है। भेदज्ञान की प्राप्ति होने पर बाह्य शरीर आदि वस्तु पर ममत्वभाव का अभ्यास दूर होता है। गृहस्थावास में स्थित मनुष्य बाह्य व्यवहारादि कार्य करता है परन्तु यदि वह भेदज्ञान (अध्यात्म) को प्राप्त करता है तो वह बाह्य पदार्थ में नही फस सकता और पृथ्वीचन्द्र तथा गुणसागर की तरह किसी भी समय उत्तम निर्लेप दशा प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है। सूर्य के साथ प्रेम करने वाला कमल स्वयं जल में निर्लेप रह सकता है। वैसे आत्मा के गुणो का पोषण करने वाला अध्यात्मज्ञान जिसके हृदय में जागृत हो जाता है उसका मन अपनी आत्मा के सम्मुख रहता है। अध्यात्मज्ञान से आत्मा का वीर्य जो अनादिकाल से परभाव मे विचरण कर रहा था वह, परभावमय वीर्य भी शुद्ध हो जाता है। आत्मा के जो जो गुण वा पर्याय परभाव के साथ विचरण कर रहे होते है, उनका अशुद्ध परिणमन टालकर शुद्ध परिणमन करने वाला वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। बाह्यज्ञान में बाह्य पदार्थों में रहना अच्छा लगता है। जबकि अध्यात्मज्ञान से आत्मा को शुद्ध

धर्म विना जड पदार्थो मे रहना अच्छा नही लगता। दुनिया के हरएक देश और उसमे भी यूरोप, अमेरिका आदि देशो मे वाह्यज्ञान से मनुष्य, प्रवृत्ति मार्ग मे कूद पडे है और इस कारण वे अन्य देशो को भी प्रवृत्तिमार्ग मे घसीटेंगे अन्त मे परिणाम यह आयगा कि बाह्यज्ञान से प्रवृत्ति मार्ग का इतना वोलवाला होगा कि, इससे मनुष्य स्वार्थ, मोजमजा, भोग और इच्छा के उपासक बनेंगे और जिससे कषाय आदि का साम्राज्य होगा। दुनिया का प्रवृत्ति मार्ग और विषयभोग, मोज शोख, स्वार्थ और कषाय आदि के सामने अपना वल अजमाने वाला वस्तुत अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य प्रवृत्तिमार्ग मे धीमी गति से प्रवृत्ति करता है और वे हाय धन! हाय धन! कहकर धन के पुजारी नही बनते। बाह्य इच्छाओं का नाश करनेवाला और आत्मा मे सुख का निश्चय कराने वाले अध्यात्मज्ञान का जो जगत् मे प्रचार हो तो दुनिया से पाप की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाय। अध्यात्मज्ञान से आत्मा के सामने मन की प्रवृत्ति मुडती है, जिससे वाह्य पदार्थो मे अहममत्व नही रहता। प्रारब्धकर्म के अनुसार बाह्य पदार्थों का आहार आदि रूप मे उपयोग होता है। फिर भी उसमे अध्यात्मज्ञान के प्रताप से बधन नही होता। ज्ञानी को राग के मद-मदतर परिणाम मे बाह्य पदार्थो का भोग होता है। मनुष्य, अपनी उत्तमता को पूरी तरह समझे तो वह अन्य जीवो का नाश मन, वचन और काया से करने का प्रयत्न नही करेगा। अनेक पापी मनुष्य अध्यात्मज्ञान के अभाव मे हिंसा के घोर धधे करके हजारो पशुओ और पक्षियो के प्राणो का नाश करते है, यदि उन्हे जिनेश्वर वाणी के अनुसार अध्यात्मज्ञान हो तो प्राणियो की हिसा जिनमे होती है ऐसे कतलखाने आदि हिंसा यन्त्रो का धधा नही करेंगे। हस

लिखित अध्यात्मग्रन्थ प्रसिद्धि पा रहे हैं, उन ग्रन्थों का पठन-पाठन बढ़ रहा है और जिससे अज्ञानी भी "अध्यात्मज्ञान यह जैन शासन की ऋद्धि है" ऐसा समझने लगे है। समुद्र की भरती में जैसे तिथि की अपेक्षा से तरतमता है—पूर्णिमा और अमावस्या के दिन समुद्र की भरती बढती है—चन्द्रमा की किरणों से सागर की भरती बढ़ती है, ऐसे पूर्वाचार्यो के वचनों से बोध मिलता है, तथा शिक्षा के प्रताप से अध्यात्मज्ञान बढ़ता है; उसे कोई दूर करने को शक्तिमान नहीं है। श्री वीरभगवान् की अध्यात्म वाणी का प्रकाश धीरे-धीरे पृथ्वी-तल पर विस्तार होने लगा है, कितने ही नास्तिक जड़वादी भी बीसवीं शताब्दी में आत्मा की नित्यता, पुनर्जन्म और कर्मवाद को स्वीकार करने लगे है।

बीसवीं शताब्दी में अध्यात्मज्ञान का विस्तार

बीसवीं शताब्दी मे ज्ञान के किरणों की थोड़ीसी झांकी हुई है; उसका वास्तविक लाभ तो इक्कीसवी शताब्दी को मिलेगा ऐसा लेखक का मत है। श्री वीरप्रभु की अध्यात्म-वाणी को अपने पूर्वाचार्यो ने कायम रखकर हमारे हाथों में सौंपी है, इसलिए उनका जितना उपकार मानें उतना कम है। अपने आचार्य तत्त्वज्ञान को जानते थे, इतना ही नही परन्तु जानकर उसके अनुसार चलते भी थे और अपने चेतन की शुद्धि करने के लिए अन्तरदृष्टि से काम लेते थे। अपने आचार्यो को अध्यात्मज्ञान को कायम रखने में बहुत कुछ सहना पड़ा है—पूर्व में बादशाही जमाने में तथा अशिक्षित राजाओं के समय में उनको धर्म का प्रचार करने के लिए बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। प्रत्येक शताब्दी

मे होने वाले विद्वान, तत्त्वज्ञान वा अध्यात्मज्ञान का किसी भी भाषा मे किसी भी उपाय से प्रचार करते है। किसी भी जाति के वृक्ष के बीज अपनी योग्य सस्कारित भूमि मे ऊग जाते है, उसी तरह अध्यात्मज्ञान के विचार सस्कारित और अध्यात्मज्ञान के योग्य मनुष्यो मे प्रकट हो जाते है और उन विचारो का प्रचार करने के लिए वे समर्थ होते है। खराब भूमि मे बीज के उगने की क्षमता नही है इसलिए खराब भूमि मे नही उगने वाले बीज खराब भूमि मे डालने पर भी ऊग जाने अर्थात् बढने की जिनमे योग्यता नही है, ऐसे मनुष्यो के हृदय मे अध्यात्मज्ञान के विचार प्रकट नही हो सकते और उन्हे दिया गया उपदेश भी व्यर्थ जाता है।

परस्पर विरुद्ध विचारो का प्राकट्य

प्रतिपक्षी विचार किसी भी शताब्दी मे कही भी परस्पर विरुद्धभाव दर्शाते है। कोई समय ऐसा नही गया या जाने वाला नही है कि, जिसमे सम्यक्त्वज्ञान और मिथ्यात्वज्ञान तथा उन दोनो को धारण करने वालो मे परस्पर विरुद्धता न हो। पुण्य के विचारो के प्रतिपक्षी पाप के विचार समान काल मे चाहे जब विद्यमान होते हैं। अध्यात्मज्ञान के प्रतिपक्षी विचार जड-वादियो के होते है। नास्तिक विचार अपने बल द्वारा आत्मिक विचारो पर अधिकार करने का प्रयत्न करते हैं। अध्यात्म-ज्ञानियो के विचार वास्तव मे जडवाद का नाश करने का प्रयत्न करते है, अर्थात् जिनमे आत्मज्ञान प्रकट होता है ऐसे मनुष्य, मिथ्यात्व के विचारो को नाश करने का उपदेश और लेखनादि द्वारा प्रयत्न करते है। अनेकातज्ञानशक्ति वास्तव मे एकान्त मिथ्या विचारो का जगत् से नाश करने मे प्रयत्नशील होती है, साराश यह है कि अनेकातधारक ज्ञानी एकान्तवाद

के कुविचारों का नाश करने में अपने से हो सके उतना प्रयत्न करे विना नहीं रहते। जगत् में अनादिकाल से ऐसा होता आया है और होता रहेगा। अध्यात्मज्ञान सत्य होने से उसका दुनिया में स्थायीत्व होता है। अध्यात्मज्ञान अपने बल से मिथ्या विद्या को दूर करने में समर्थ होता है। अध्यात्मज्ञान अपने सामर्थ्य से कर्मों का नाश करने के लिए समर्थ बनता है। अध्यात्मज्ञान का माहात्म्य उस ज्ञान को जो प्राप्त करता है वही समझ सकता है। आशातृष्णा के बीज का नाश करना हो तो अध्यात्मज्ञान की सेवा करनी चाहिए। अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर अन्तर में समझना चाहिए कि बाह्य विषय झूठे है।

बाहर के करने योग्य कार्यो को अधिकार के अनुसार करना चाहिए; ऐसा यदि नहीं किया जाये तो अध्यात्मज्ञान से भी उपाधि नही टलती और दुनिया के व्यवहार में भी बल प्राप्त नही होता। इस पर एक अन्य दर्शन का दृष्टांत कहा जाता है।

एक नगर में सुधन्वा नाम का एक राजा राज्य करता था। उसके सुमति नाम की पुत्री थी और एक भद्रक नाम का पुत्र था। सुधन्वा राजा को पुत्र और पुत्री से बड़ा स्नेह था; उसने भद्रक को उपाध्याय के पास बोहत्तर कला का अभ्यास कराया। और पुत्री को चौसठ कला का अभ्यास कराया। सुमति वेदांत ज्ञान का अभ्यास करने लगी। एक महात्मा उसके नगर में ठहरे हुए थे; उनके पास वह प्रतिदिन ब्रह्मज्ञान की चर्चा करने जाती थीं। सुमति को ब्रह्मचर्चा में बड़ा आनन्द आता था। एक दिन भद्रक राजपुत्र भी सुमति के छिद्रान्वेषण करते करते वह ज्ञानचर्चा सुनने लगा। भद्रक को प्रतिदिन चर्चा में रस आने

लगा, बहुत दिना मे भद्रक ब्रह्मज्ञान मे प्रवीण हो गया परन्तु व्यवहारकुशल नही होने से महात्मा द्वारा दिये गये ब्रह्मोपदेश की दृष्टि को व्यवहार मे भी आगे लाने लगा अर्थात् व्यवहार कार्य मे भी ब्रह्मज्ञान की बातें करने लगा। एक दिन राजसभा मे राजा ने उसे युवराज पदवी देकर कहा कि—हे राजपुत्र! तू अब सम्पूर्ण राज्य और सेना की सम्हाल कर। भद्रक ने भद्रोकला मे कहा कि, राज्य या राजा वा सेना सब असत् है, ब्रह्म सत्य है और माया असत् है, मैं भी नही और तू भी नही, युवराज भी नही और राजा भी नही, इसलिए असत् का व्यवहार क्यो करना चाहिए? राजा ने कहा कि—पुत्र! ऐसी व्यर्थ की बात मत कर, तू अब युवराज पद की शोभा को बढा! जिससे आगे तू राजा का राजा बनने के लिए योग्य हो सके। राजा के उक्त वचन सुनकर युवराज बोला कि—हे राजन् आप असत् माया को सत् मानकर व्यर्थ की बातें करते हैं। जो वस्तु ही नही उसे सत् मानकर मूर्ख बनते हैं, अर्थात् इसलिए आप भ्रांत हो गये हो। ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या नेहनानास्ति किंचन इस श्रुति का ज्ञान होता तो आप असत् का सरक्षण करने को मुझे नही कहते। इस अवसरहीन और प्रस्तुत विषय पर अरुचिकर और क्रोध दिलाने वाले उसके वचन सुनकर राजा के मन मे अत्यन्त दुःख हुआ और राजा ने क्रोधित होकर सेवक को आज्ञा दी कि, भद्रक युवराज ने मेरा अपमान किया है इसलिए प्रतिदिन उसे पाच कोडे मारना। पिता की आज्ञा के अनुसार भद्रक को रोज मार खानी पडती थी। सुमति भद्रक की ऐसी अवस्था देखकर शोक करने लगी। एक दिन राजपुत्री उन महात्मा के साथ ब्रह्मज्ञान की चर्चा कर रही थी। इतने मे राजपुत्र भद्रक भी महात्मा के पास आया

और नमस्कार कर ब्रह्मचर्चा करने लगा। ब्रह्मज्ञान की चर्चा में उसे बहुत आनन्द आता था। सुमति ने मन से कुछ विचार कर महात्मा से निवेदन किया कि, हे महात्मन्! आपका शिष्य राजपुत्र भद्रक, आपके दिए ब्रह्मज्ञान के उपदेश से प्रतिदिन पांच कोड़ों की मार खाता है; इसलिए कृपा कर अब मेरे भाई के दुःख को दूर करें; आप ज्ञानी हैं, आपकी कृपा से मेरे भाई का दुःख दूर हो जायगा ऐसी मुझे आशा है। लोगों में आपके शिष्य का अपमान होता है, वह आपका होता है ऐसा मैं समझती हूं, इसलिए कुछ भी उपाय कर मेरे भाई पर कोड़ों की मार के दुःख को दूर करें। राजपुत्री सुमति की यह बात सुनकर महात्मा बोले कि—हे सुमति "तेरा भाई पांच कोड़ों की मार खाता है यह न्याय की बात है, जो मनुष्य मित्रों की बात मूर्खों मे करता है उसको पांच कोड़े पड़ना ही चाहिए, ब्रह्मज्ञान की बात ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों के लिए है; तेरा भाई ब्रह्मज्ञान की बात व्यवहार कार्य में करता है इसलिए उसको व्यवहार अकुशलता के कारण पांच कोड़ों की मार पड़ती है, वह न्याय संगत है। राजपुत्री तुम लड़की हो परन्तु मित्रों की बात मूर्खों में नहीं करती है इसलिए तुझे ब्रह्मज्ञान का आनन्द मिलता है, फिर व्यवहार दशा में भी तेरा तिरस्कार नही होता है" महात्मा के उक्त वचन राजपुत्री सुमति के दिल में बराबर बैठ गए और इसलिए वह राजपुत्र भद्रक को कहने लगी कि—भाई! इस विषय में महात्मा के वचन के अनुसार तू व्यवहारकुशल नही होने से, ब्रह्मज्ञानी होने पर भी पांच कोड़ों की मार खाता है। ज्ञानियों के अनुभवज्ञान की बातें योग्य जीवों के साथ करने की होती हैं। यदि तू व्यवहार कुशल होता तो तेरी यह दशा नही होती, इसलिए अब दुनिया की

रीति के अनुसार अंतर मे अलग रहकर काम करने की आदत डाल, कि जिससे ब्रह्मज्ञान का अनादर न हो। अनधिकारी को प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञान मे, ब्रह्मज्ञान का लोग तिरस्कार करते है और जिससे ब्रह्मज्ञानी दुनिया मे पागल गिना जाता है। राजपुत्र भद्रक के मन मे भी यह बात जम गई और उसने अपने व्यवहार अनभिज्ञता के दोष को समझ लिया। राजपुत्र ने महात्मा को और अपनी बहिन को कहा कि अब से मैं व्यवहार मे कुशल होऊगा और ब्रह्मज्ञान का अनादर नहीं होने दू गा। दूसरे दिन राजपुत्र भद्रक, राजा की सभा मे गया और राजा को नमस्कार कर और व्यवहार मे व्यवहारकुशलता का बर्ताव कर राजा से क्षमा मागी और प्रारब्ध योग से प्राप्त कार्यो को व्यवहार से करने लगा जिससे राजा उस पर प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि, भद्रक युवराज का पागलपन अब दूर हो गया है और वह समझदार हो गया है। उसे कोडे मारना बन्द करने का आदेश दे दिया गया और यह घोषणा कर दी गई कि सब युवराज की आज्ञा का पालन करे। युवराज सासारिक काम सासारिक व्यवहार के अनुसार करने लगा और समय मिलने पर ब्रह्मज्ञान का आनन्द भी लेने लगा जिससे वह सुखी हुआ।

युवराज भद्रक का दृष्टात सुनकर अध्यात्मज्ञानी बहुत कुछ सार ले सकते हैं। अध्यात्मज्ञान की बात मूर्खो मे करने से मूर्ख अध्यात्मज्ञान नही समझ सकते वरन् वे अध्यात्मज्ञानियो को कोडे मारने जैसा व्यवहार करते है। व्यवहारकुशल और शुष्कतारहित अध्यात्मज्ञानी व्यवहार मे व्यवहार के अनुसार अपने अधिकार [illegible] करते है और [illegible] अध्यात्मस्वरूप [illegible] है। इसलिए [illegible]

वे समझदार माने जाते है. कितने ही शुष्क अध्यात्मज्ञानी व्यवहार कुशलता के अभाव में ज्ञान की बातें मूर्खो मे कर अध्यात्मज्ञान की हंसी कराते है। **निश्चय दृष्टि चित्त धरिजी पाले जे व्यवहार; पुण्यवंत ते पामशेजी भवसमुद्र नो पार।** श्री उपाध्यायजी के इन वचनों का परमार्थ हृदय में उतार कर अध्यात्मज्ञानी वर्ताव करें तो अनेक मनुष्यों को वे अध्यात्मज्ञान का स्वाद चखा सकते है। अध्यात्मज्ञानियों की सूक्ष्म बुद्धि होने से वे आत्मा में गहरे उतर जाते हैं इसलिए उन्हे व्यवहार में रस नहीं आता; फिर भी उनको जिस-जिस अवस्था में अधिकारभेद से उचित व्यवहार हो उसे नही छोड़ना चाहिए। अध्यात्मज्ञानियों को भी अध्यात्मज्ञान का प्रसार सारी दुनिया में फैले ऐसा भाव हो वहां तक उन्हे व्यवहारमार्ग का अमुक अधिकार प्रमाण से अवलंबन लेना चाहिए। **खाना, पीना, लघु नीति और बड़ी नीति तथा नींद और आजीविकादि काम जहां तक करने पड़े वहां तक, व्यवहारधर्म क्रियाओं को भी अमुक दशा तक करना चाहिए।** व्यवहार कुशलता की सूचना करने के बाद अध्यात्मज्ञान की उपयोगिता का वर्णन किया जाता है। अध्यात्मज्ञान वास्तव में अमृत-रस के समान है। अध्यात्मज्ञानरूप अमृतरस का पान करने से जन्म, जरा और मृत्यु का चक्र दूर होता है।

प्रत्येक धार्मिक क्रिया मे अध्यात्मरस डाला जाता है। किसी भी धार्मिक क्रिया में गहरे उतर कर देखे तो उच्च प्रकार के रहस्य का बोध होता है। जो आत्मा के शुभादि अध्यवसायो को उत्पन्न करते है, उन-उन क्रियाओं को भी आरोपित कर अध्यात्मरूप में बताई जाती हैं। वस्तुतः विचार करें तो आत्मा के ज्ञानादि गुण ही अध्यात्मरूप में कहे जा सकते है।

आत्मा का सयम

आत्मा की शक्तियो को बताने वाले अध्यात्मशास्त्रो के प्रणेता आत्मतत्त्व का अनुभव कर के ही-उन बातो को बताई है। आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लिए योगी एकान्त स्थान पसन्द करते हैं। कोई गुफा मे जाकर आत्मतत्त्व का ध्यान करते है। कोई अष्टागयोग की साधनप्रणाली द्वारा आत्मतत्त्व का ध्यान करते है। परभाव मे जिस-जिस आत्मा की शक्तियों का परिणमन हुआ है उसे, आत्मसात करना यही अध्यात्मक्रिया का मुख्य उद्देश्य होता है। **मनोद्रव्य द्वारा भावमन की शुद्धिकर राग-द्वेष दशा को त्यागकर उत्तम अध्यात्मज्ञानी प्रयत्न करते हैं।** आत्मा की जैसे-जैसे शुद्धि होती है वैसे-वैसे अध्यात्मतत्त्व का प्रकाश होता है। जैनधर्म का प्रचार करने मे अध्यात्मज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। एक विद्वान सज्जन कहते है कि, "अध्यात्मतत्त्व के विद्वान धर्म का प्रचार किन-किन उपायो से करना होता है इसके वे अच्छे जानकार होने से, वे आत्मा की शक्तियो का उन-उन उपायो को काम मे लेकर धर्मप्रचार मे सफलता प्राप्त करते हैं।" आत्मतत्त्व मे विशेष गहरे उतरकर उसका अनुभव करने से प्रत्येक मनुष्यो की आत्मा की प्रवृत्तियो को बोध दे सकते है। आत्मा के शुभादि अध्यवसायो पर गहरो अभ्यास करने से प्रत्येक मनुष्य के मन मे होने वाले अध्यवसायो को जानने की शक्ति प्राप्त होती है। जिन-जिन बातो का ज्ञान द्वारा सयम किया जाता है उन-उन बातो का अच्छी तरह आत्मा को भान होता है। आत्मा, छद्मस्थावस्था मे विचार करने के लिए समय-समय पर अनत मनोद्रव्य को ग्रहण करता है। अनेक प्रकार के विचार करने के लिए मनोद्रव्य की सहायता

लेनी पड़ती है। अच्छा विचार करने में शुद्ध मनोद्रव्य की सहायता ली जाती है तो शुभलेश्या का उत्पाद होता है। जिन-जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, उन-उन वस्तुओं का क्षयोपशमज्ञान प्रकट होता है। दुनिया के पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करने से, उन-उन वस्तुओं के ज्ञान के क्षयोपशम की वृद्धि होती है। जिसका क्षयोपशमज्ञान द्वारा सर्व प्रकार का क्षयोपशम प्रकट हो ऐसे आत्मतत्त्व का मनोद्रव्य की सहायता से विचार करना चाहिए। मनोद्रव्य की सहायता से आत्मतत्त्वों का वार-वार विचार किया जावे तो आत्मतत्त्ववासना में दृढ़ता आती है। अवग्रह, इहा, अपाय और धारणा ये चार भेद वस्तुतः मतिज्ञान के हैं। अवग्रहादि चार भेदो के द्वारा आत्मतत्त्व का परोक्ष दशा में चितवन करने से और आत्मतत्त्व सम्बन्धी घंटों तक संयम होने से, आत्मतत्त्व का विशेषतः अनुभव होता है। नियम यह है कि जिस पदार्थ का वारंवार चितन किया जाता है उस पदार्थ के ज्ञान के क्षयोपशम की वृद्धि होने से उस पदार्थ का अच्छी तरह ज्ञान किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार आत्मतत्त्व का घंटों तक—आगमों के अनुसार मनन किया जावे तो आत्मा के स्वरूप का स्पर्श किया जा सकता है। प्रख्यात शोधक एडीसन ने अड़तालीस घंटों तक फोनोग्राफ के विचारों की श्रेणियों से फोनोग्राफ की शोधकर शब्दों के संयम को सिद्ध कर वताया। एडीसन की तरह घंटों तक जो आगमानुसार आत्मतत्त्व का मनन करते रहते है वे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में इतने गहरे उतर जाते है कि, उनकी जगत् के बाह्य जीवों को समझ नही पड़ती। सिर्फ जो रात-दिन आत्मा का मनोद्रव्य से चितवन करते है वे अन्त में सत्य

कर्तव्य प्राप्त करते है। जिन्हे सिद्धातो के अनुसार आत्मतत्त्व समझ मे आना है वे, परमसुख के महासागर का अपने मे निश्चय कर उसी मे मनन स्मरण द्वारा विचरण करते हैं। दुनिया मे अनेक प्रकार के तत्त्वो का ज्ञान करते हुए जो आनद नही मिलता वह आनन्द अपने स्वरूप का मनन करने से मिलता है। एक पूर्वाचार्य ने लिखा है कि, "सब प्रकार के ज्ञानियों को बोधित करने की ज्ञानशक्ति और सत्य सुख जानने की शक्ति वास्तव मे आत्मा मे ही है" तब आत्मा का ही अवलम्बन लेकर यदि उसी का ज्ञान किया जावे तो कितना आनन्द मिलेगा ? और उसका वर्णन कौन कर सकेगा ?

आत्मतत्त्व के जानकार आत्मज्ञानी बहुत गहरे उतरकर उसके सहजसुख के स्वाद का अनुभव करते हैं, जिससे सिर पर दुःख का आकाश भी आ पडे तब भी वे आत्मतत्त्व का आश्रय कभी नही छोडते। अध्यात्मज्ञान का तिरस्कार करने के लिए एकान्त जडवादियों ने कुछ भी बाकी नही रखा है। जडवादियो ने अध्यात्मज्ञानियो को दुःख देने मे प्राणो का भी नाश किया है, तथापि अध्यात्मज्ञानियो ने बाह्य प्राणो का त्याग करने मे—अपना सहजसुख अनुभव करने के बाद कमी नही की है। आत्मा के सहजसुख का जिन ज्ञानियो ने स्वाद चखा है वे चक्रवर्ती व देवताओ को भी कुछ नही गिनते। उन्हे तो आत्मतत्त्व की धुन लगी होती है, इसलिए उन्हे बाह्य पदार्थो पर आसक्तिभाव नही रहता है। अध्यात्मज्ञानी सब आत्माओं को अपनी आत्मा के समान मानकर उनसे शुद्ध प्रेम करते हैं। उनके हृदय में तृष्णा, स्वार्थ और वैषयिक सुख की इच्छा नही रहती है। आत्मतत्त्व का अनुभव होने के बाद मोह का जोर घटने लगता है। अध्यात्मज्ञानी जगत् के जीवो

को अपनी आत्मा के समान मानते हैं इसलिए उनका नाश न हो इसके लिए दयाव्रत को स्वीकार करते हैं। उनके मन में किसी जीव को दुःख न हो ऐसा विचार होता है, इसलिए वे सत्यव्रत को स्वीकार करते हैं। अध्यात्मज्ञानी भाव से पर वस्तु की इच्छामात्र का त्याग करने का प्रयत्न करते हैं और द्रव्य से पर पुद्गल वस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करते। अधिकारभेद से वे अस्तेयव्रत को स्वीकार करते हैं। अध्यात्मज्ञानी को परवस्तु को भोगने की इच्छा नहीं रहती। परवस्तु की ऋद्धि को वे नाक के मैल समान समझते हैं, इसलिए वे परवस्तु सम्बन्धी इच्छाओं को रोकने तथा पंचेंद्रिय विषयों की इच्छाओं पर काबू पाने के लिए समर्थ होते है। इच्छा के त्यागरूप आंतरिक ब्रह्मचर्य का पालन करने में वे हकीकत में समर्थ बनते है। वाह्य जड़ वस्तुओं को धन रूप में मानने की वृत्ति को वे स्वीकार नहीं करते। बाह्य धन में मूर्च्छा नहीं रहती है। वह सब अध्यात्मज्ञान का प्रताप समझना। चक्रवर्ती आदि की पदवियां और करोड़ों रुपयों का त्याग कर जो, आत्मतत्त्व की आराधना करते हैं उन्हें अध्यात्मज्ञान की महिमा का सम्यग् बोध होता है। जब नमि राजा ने दीक्षा अंगीकार की और समस्त वस्तुओं के ममत्व को दूर किया तव इन्द्र महाराज ने उनके त्याग की परीक्षा के लिए उनके संपूर्ण नगर को जलता हुआ दिखाया, अंतःपुर की रानियों को अग्नि भय से पुकार करती हुई दिखाई फिर भी नमिराज मुनिवर कहने लगे कि इसमें मेरा कुछ नही जलता है। वे इन्द्र के इन्द्रजाल से मोहित नहीं हुए, इसमें मुख्य अध्यात्मज्ञान ही कारणभूत था। स्कंध मुनि के पांच सौ शिष्यों को घाणी में पीसने लगे तव, प्रत्येक मुनि आत्मतत्त्व की भावना से

घाणी मे पिलते हुए भी शरीर द्वारा होने वाले दु ख को भी सहन किया और आत्मा मे ही उपयोग रख परम समताभाव रखा। घाणी मे पिलते हुए कितना दु ख होता होगा ? इसका जिसने अनुभव किया हो वही जान सकता है। शरीर के किसी अग मे चाकू लग जाता है तो कितना दु ख होता है ? तब घाणी मे पिलते समय अत्यन्त असह्य वेदना को सहन करने मे सत्य आत्मज्ञान की कितनी समर्थता है, वह ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। स्कधसूरि के शिष्यो की अध्यात्मज्ञान की वास्तव मे परिपक्व दशा थी, इसलिए वे आत्मा से शरीर अलग समझते हुए उत्तम ध्यान कर सके। **अपने को ऐसे मुनियो के दृष्टात लेकर वैसी दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।** अध्यात्मज्ञान के अभ्यासियों का प्रथमावस्था का ज्ञान तो गुलाब के पुष्प के समान होता है। गुलाब का पुष्प जैसे सूर्य की गर्मी से कुम्हला जाता है, वैसे अध्यात्मज्ञान के अभ्यासियों का प्राथमिक ज्ञान भी अनेक प्रकार के उपसर्ग आते ही दूर हो जाते है। **अनेक प्रकार के दु खो के सामने जो अध्यात्मज्ञान टिका रहता है और जो आत्मा के गुणों की रक्षा करने मे समर्थ होता है, उसे ही परिपक्व अध्यात्मज्ञान समझना चाहिए।**

प्रथमावस्था का अध्यात्मज्ञान

प्रथमावस्था मे उत्पन्न होने वाला अध्यात्मज्ञान सामान्य होने से उस ज्ञान द्वारा चाहिए जितनी शांति नही मिलती, फिर भी उस ज्ञान के बल से पक्व ऐसे अध्यात्मज्ञान मे प्रवेश किया जा सकता है। अनेक प्रकार के हेतुओ से प्रथम अवस्था मे होने वाला अध्यात्मज्ञान पीछा टल जाता है, इसलिए ऐसे ज्ञानी यदि आचार और विचार से बलवान न हों तो उनमे

अध्यात्मज्ञान का दोष नही है। जिनकी **आगम बुद्धि** ज्यादा नहीं होती वे अध्यात्मज्ञान के मार्ग से किसी के भ्रमित करने से पीछे रह जाते हैं। और अध्यात्म की निंदा करने लगते है। अपने अधिकार को नहीं जानकर अधिकार बगैर की वस्तु मे सिर खपाने से ऐसा हो जाय, इनमे कोई आश्चर्य की बात नही।

अध्यात्मज्ञान की अवज्ञा करने पर श्रृगाल का दृष्टांत

एक सियाल था। बेर के ऊँचे पेड़ के बेर खाने का प्रयत्न करने लगा। वह बहुत कूदने लगा परन्तु एक बेर भी उसके मुँह मे नही आया। दूसरे सियालों ने उसकी मजाक की और कहा कि उसने एक भी बेर क्यों नही खाया? उस मूर्ख और धूर्त सियाल ने कहा कि—मैंने बेर खट्टे होने की वजह से नहीं खाये। दूसरे सियाल ने कहा कि यदि बेर को मुँह में लेकर उसकी परीक्षा की होती तो मैं तेरी परीक्षा को स्वीकार कर सकता था। इसलिए अब ज्यादा मत बोल। अध्यात्मज्ञान के बारे में भी उस सियाल की तरह कितने ही प्रयत्न करते है और अध्यात्मसुख लेने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु वे मूर्ख, अश्रद्धालु और सिर्फ वाचाल होने से तथा आत्मिक धर्मक्रिया की तरफ प्रवृत्ति नही रखने वाले होने से, वे अध्यात्मज्ञान में प्रवेश नही कर पाते और उन्हें आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं होता। अनुभव हुए बिना उन्हें आत्मिकसुख भी नहीं मिलता, इसलिए वे अन्त मे घबराकर अध्यात्ममार्ग से पीछे हट जाते है और कोई कारण पूछता है तो वे उस झूठे सियाल की तरह, अपनी भूल छिपाने के लिए मन माफिक बकने लगते हैं; परन्तु उनके वाक्यों की ओर तत्त्वज्ञानी ध्यान नहीं

देते । अध्यात्मसुख का जिसने अनुभव किया है वैसा पक्व-ज्ञानी कभी किसी के भ्रमित करने से अध्यात्मतत्त्व का त्याग नही करता ।

अध्यात्मज्ञान की अपक्वदशा वाले मनुष्यो को पक्वज्ञान वाले मनुष्यो का अवलबन लेना चाहिए । अध्यात्मज्ञानी को अपने उत्तम सदाचार मे और जगत्सेवारूप कर्तव्य द्वारा प्रतिपक्षियो को भी बता देना चाहिए कि जडज्ञान के शुष्क ज्ञान से हम दूर है । अध्यात्मज्ञान की पक्वदशा होने पर उत्तम स्थिरता प्राप्त होती है । ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान मात्र पुस्तके पढने से मिलता है ऐसा नही सोचना, साक्षात गुरु के बोध से जो अध्यात्मज्ञान के रस का अनुभव होता है वह कभी पुस्तको के पढने से नही होता । पुस्तको के द्वारा अध्यात्मज्ञान का जो बोध किया जाता है उसे परिपक्व करने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है । श्री सद्गुरु बिना अध्यात्मज्ञान का अभ्यासी कई बातो मे भूल करता है और उसे अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी कई अनुभव नही हो सकते । सद्गुरु की छत्रछाया के बिना स्वच्छदी मनुष्य वास्तव मे हारे हुए ढोर जैसा है । जिसके सिर पर सद्गुरु नही है वह अध्यात्मज्ञान के प्रदेश के आगे आकर, वा आगे-पीछे होकर पीछा लौटता है, और वह बाह्य वस्तुओ मे सुख के लिए दौडता है, दुनिया के प्रत्येक उत्तम काम मे दक्षता प्राप्त करने के लिए किसी को भी गुरु अवश्य बनाना पडता है, वैसे मोक्ष मार्ग मे प्रवेश करने के लिए अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किसी मुनिवर को सद्गुरु अवश्य बनाना चाहिए । जिन्होने मोक्ष मार्ग की तरफ प्रयाण किया है ऐसे मुनिवर अध्यात्मज्ञान की चाबियां देने के लिए समर्थ होते है । सासारिक उपाधियो का त्याग कर जो घटो

आत्मा का उद्धार करने के लिए निरुपाधि दशा भोगते है और आत्मतत्त्व की विचारणा में लीन रहते हैं, वे सद्गुरु हो सकते है। जिन मुनिवर-सद्गुरु ने अध्यात्मज्ञान का गहरा अनुभव किया है और जिनका अनुभव वास्तव में वीतराग वाणी के अनुसार है, ऐसे अध्यात्मज्ञानी मुनिवर की आज्ञा स्वीकार कर और उनके दास-शिष्य होकर अध्यात्मज्ञान का अनुभव करना चाहिए; यह बात मुख्यतः ध्यान में रखना चाहिए।

अध्यात्मज्ञान का अनुभव वास्तव में पाताली कुए जैसा है। पाताली कुए का पानी जैसे खतम नही होता, वैसे अध्यात्म का अनुभव भी नया नया प्रकट होने से कभी समाप्त नही होता। अध्यात्मज्ञान के बल से प्रतिदिन आत्मतत्त्व सम्बंधी नया अनुभव प्रकट होता है और इसलिए प्रत्येक बातों का सार संक्षेप में समझ में आता है। कितने ही सम्यग् अनुभव के बिना 'लेभागु' अध्यात्मी होते है उनकी अमुक बाबत मे दृष्टि मर्यादावाली हो जाने से वे अपने विचारों में मानों सब प्रकार का अध्यात्मज्ञान समा गया है ऐसा घमंड करके अनेक प्रकार के वितंडावाद चाहे किसी के साथ कर, मन में आनंद के बजाय क्लेश को पाते है। कितने ही सम्यग्ज्ञान के अभाव में अमुक तरह की क्रिया करें तब ही अध्यात्म कहा जाय ऐसे उछले विचारों से बोलते है। अपनी बुद्धि द्वारा जो पूरा अनुभव किए बिना अध्यात्मज्ञान पर विचार करने लगते है वे बहुत भूल करते हैं परन्तु वे बाद में अध्यात्मज्ञान का अनुभव प्राप्त कर अपनी भूल के लिए पश्चाताप करते है। गजसुकुमाल मुनिवर जो कि कृष्ण के भाई थे, उन्होंने बाल्यावस्था में दीक्षा ली थी। वे स्मशान में कायोत्सर्ग कर

खडे थे। तब, उनके श्वसुर सोमिल ने क्रोधित हो उनके मस्तक पर मिट्टी की पाल बाध कर उसमे अगारे भर दिये, फिर भी श्री गजसुकुमाल ने अध्यात्मज्ञान के बल से अग्नि के दु ख को सहन किया और अपने मन मे जरा भी क्रोध नही आने दिया। अपने मन मे वे अध्यात्मज्ञान के कारण उत्तम भावना भाने लगे और शरीर त्याग कर परम सुखी हुए। श्री गजसुकुमाल का दृष्टात वास्तव मे अध्यात्म भावना की पुष्टि मे हेतुभूत है।

माता और पिता के समान अध्यात्मज्ञान

अध्यात्मज्ञान वास्तव मे माता के समान है। माता जैसे अपने बाल बच्चो का लालन पालन करती है और उनको अनेक दु खो से बचाती है, अपने बच्चो के अपराध की तरफ देखती नही परन्तु उनके भले के लिए ही हमेशा प्रयत्न करती है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी भव्य जीवो की पुष्टि करता है और भव्य जीवो मे रहे अनेक दोषरूप मल को दूर करता है, तथा भव्य जीवो के गुणो की पुष्टि कर परमात्मपदरूप महत्ता को देता है। अध्यात्मज्ञान वास्तव मे माता पिता की जरूरत पूरी करता है। सासारिक पिता, जैसे अपने कुटुम्ब का पोषण करता है और कुटुम्ब को सुखी करने के लिए कठिन परिश्रम करता है, शत्रुओ से अपने कुटुम्ब की रक्षा करता है, अपने पुत्र और पुत्रियो को पढाता है और उनको शुभ मार्ग की ओर ले जाता है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप भाव पिता भी विरति आदि कुटुम्ब का पोषण करता है और अतरात्मा को ज्ञानादि पचाचार का शिक्षण देकर उनकी पुष्टि करता है, तथा मैत्री आदि भावनाओ के अमृतरस से अतरात्मा का पोषण करता है और उच्च गुणस्थानकरूप शुभ मार्ग मे अपने कुटुम्ब को ले

जाता है और अपने कर्तव्य का पालन कर आत्मा के आंतरिक कुटुम्ब की उन्नति करता है। अध्यात्मज्ञान वास्तव में एक उत्तम मित्र के समान है। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र को प्रफुल्लित करता है वैसे अध्यात्मज्ञान भी अंतरात्मा को प्रफुल्लित करता है। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र का, संकट में साथ देता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी अंतरात्मारूप मित्र को मोहराजा द्वारा दिए अनेक प्रकार के संकटों में साथ देकर, मोह के दुःख से उबारता है! उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र के साथ मृत्यु पर्यन्त विश्वासघात नही करता वैसे अध्यात्मज्ञान भी अंतरात्मा के साथ कदापि विश्वासघात करने की प्रवृत्ति नही करता। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र की दोष दृष्टि को टालकर सद्गुण दृष्टि रखता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी अंतरात्मा में रहे दोषों को टालकर सद्गुण दृष्टि विकसित करता है। अंतरात्मा का अपना क्या कर्तव्य है और वह किस तरह सिद्ध हो? यह सिखाने वाला अध्यात्मज्ञान है। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र के गुण व दोष जानता है फिर भी वह दोषों की बात किसी से नहीं करता और गुणों की बात सब जगह करता है। वैसे अध्यात्मज्ञान भी सर्व जीवों के लिए उत्तम मित्र की तरह है। जिनमें अध्यात्मज्ञान उत्पन्न होता है वे सर्व जीवों के गुणों को देखते है और सब जीवों के गुणो की सुगंधी फैलाते है। मनुष्यों के दुर्गुणों की तरफ उनका लक्ष्य नही जाता। दुर्गुणों का वे प्रसार नहीं करते, तथा दोषों को प्रकट कर किसी की आत्मा को दुःख नहीं पहुंचाते। अध्यात्मज्ञान से सर्व जीव अपने समान लगते है और इसलिए सब जीवों पर मैत्रीभावना प्रकट होती है। सब जीवों के गुण देखने की शक्ति खिलने से **सब जीवों के जो जो गुण होते हैं**

उन उन गुणो को देखकर अध्यात्मज्ञानी प्रमोदभाव को धारण करता है। तथा सब जीवो को दुखी देख उन पर कारुण्य भावना धारण करता है और गुणहीनो को देखकर मध्यस्थ रहता है। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र की उन्नति करने मे मेरा-तेरा ऐसा भाव नही रखना, उसी तरह अध्यात्मज्ञानी भी सब जीवो को मित्र मानकर उनका भला करने मे मेरा-तेरा भाव धारण नही करता। सब जीवो को अपना मित्र समझने की शक्ति देनेवाला वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत एक कुटुम्ब समान लगता है —
भगवद्गीता के विवेचन मे कहा है कि—

अय निज परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचारितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह मेरा है और यह तेरा है। ऐसी लघुमन वालो की भावना है, जिनका उदार चरित है उन्हे तो सम्पूर्ण पृथ्वी अपने कुटुम्ब समान लगती है। अध्यात्मज्ञान से ऐसी उत्तम भावना आने से जगत् मे उदारचरित वाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं और इसलिए वे दुनिया का भला किसी भी स्थिति मे रहने पर भी करते हैं। उत्तम मित्र जैसे अपने मित्र से एकरूप होकर उसके दोष टालता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी आत्मा से एकरूप होकर आत्मा मे रहे दोष टालने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। उत्तम मित्र जिस तरह अपने मित्र का सकट के समय मे साथ नही छोडता उसी तरह अध्यात्मज्ञान भी आत्मा को दुख के समय नही छोडता है, परन्तु उलटा अध्यात्मज्ञान वास्तव मे सकट के समय आत्मा को सहारा देने के लिए समर्थ होता है। अन्तर मे उत्पन्न होने वाले मोह

रोगादि योद्धाओं के सामने खड़ा रहकर युद्ध करने वाला 'अध्यात्मज्ञान' जिसके हृदय मे प्रकट हुआ है उसे अन्य मित्र बनाने की जरूरत नहीं होती। भय, खेद आदि अशुभ विचार आत्मा में उत्पन्न होते ही उन्हें हटाने वाला अध्यात्मज्ञान है। जो मनुष्य अध्यात्मज्ञान पर विश्वास रखकर उसे अपने मित्र की तरह स्वीकार करता है, उसे शोक, चिंता, भय आदि दुश्मनों का जरा भी भय नहीं रहता है।

अध्यात्मज्ञान को जो मित्र बनाना चाहते हैं वे आंतरिक सृष्टि में प्रवेश करते है, परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि अध्यात्मज्ञान को मित्र बनाने के लिए प्रथम बाह्य वस्तुओ के ममत्व का त्याग करना होगा। जिन्हें अध्यात्ममित्र पर शुद्ध प्रेम नही होता उनके हृदय में अध्यात्मज्ञान की स्थिरता नहीं होती। जिन्हे महाराजा-शहनशाह को अपने घर पर बुलाना होता है उस घर को कैसा सजाना पड़ता है और अपने प्रेम का कितना विश्वास दिलाना पड़ता है? उसी तरह अध्यात्मज्ञान को हृदय में स्थिर करने के लिए, मन मे अत्यन्त शुद्ध प्रेम और श्रद्धा रखनी होती है। शुष्क अध्यात्मियों के हृदय में सच्चा अध्यात्मज्ञान प्रकट नही होता, सिर्फ अध्यात्मज्ञान की बातों से अपनी उन्नति नही होती। वस्तुतः अध्यात्मज्ञान जब हृदय मे परिणमता है तब वैसा परिणामिक अध्यात्मज्ञान वास्तव मे आत्मा की शुद्धता प्रकटाने में समर्थ होता है। अध्यात्मज्ञान सच्चे मार्ग में गुरु की गरज पूरी करता है। गुरु जैसे शिष्य को अनेक शिक्षाएं देकर ठिकाने लाता है और शिष्य को गुणवान बनाता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी आत्मा को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर आत्मा को स्व-स्वभावरूप-

अपने घर मे लाता है और क्षयोपशमादि भावना आदि अनेक गुणो का धाम आत्मा को बनाकर, अनत सहजसुख का विलासी बनाता है। गुरु जैसे शिष्य की भलाई के लिए हमेशा प्रयत्न करता रहता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी अन्तरात्मा की उन्नति के लिए प्रयत्न करता रहता है, जैसे गुरु शिष्य को अपने उपदेश से अनेक शिक्षाए देकर विनयवान बनाता है, वैसे अध्यात्मज्ञान भी जगत् के जीवो को अनेक शिक्षा देकर अहकार दोष को हटाकर विनयवत बनाता है। अध्यात्मज्ञान और अहकार का सुमेल होता नही। मुनिवर अध्यात्मज्ञान द्वारा अहकार को जीतकर लघुता गुण को धारण कर विनय का पाठ सम्पूर्ण जगत् को पढाते है। अध्यात्मज्ञान से लघुता गुण की यदि प्राप्ति न हो तो समझना कि, उसके हृदय मे अध्यात्मज्ञान ने प्रवेश किया ही नही है। अध्यात्मज्ञान वस्तुत सूर्य के समान है। आत्मसृष्टि मे रही ऋद्धि का दर्शन कराने वाला अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश से अतरात्मारूप कमल खिलता है और वह भोगरूपी जल से, निर्लेप रहता है।

उपमा, उपमेय, अध्यात्मज्ञान

अध्यात्मज्ञानरूप सूर्य की किरणो से अज्ञानरूप अधकार का नाश होता है। अध्यात्मज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश से मनुष्य सब वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अध्यात्म-ज्ञानरूपी सूर्य के सामने दुनिया के पदार्थो का ज्ञान चमकते ताराओ के समान शोभा देता है। अध्यात्मज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश से आत्मा के समस्त गुणो के दर्शन होते है।

अध्यात्मज्ञान वास्तव में जगत् में चंद्रमा की उपमा के समान है। अध्यात्मज्ञानरूप चंद्रमा की शीतलता से मनुष्य आंतरिक शांति प्राप्त करने में शक्तिमान होता है। अध्यात्मज्ञानरूप चंद्रमा से अनुभवरूप अमृत झरता है, उसका उत्तम योगी पान करते है। अध्यात्मज्ञानरूप चंद्र के पूर्ण उदय से समतारूप सागर की बेल बढ़ती है और उससे जगत् में आनन्द महोत्सव होते हैं। आध्यात्मिकज्ञान रूप चन्द्रमा का प्रकाश जगत् में फैलने से अपूर्व शांति का वायु चलता है। अध्यात्मज्ञान वास्तव में सागर की उपमा धारण करता है। सागर जैसे अनेक नदियों से शोभित होता है वैसे अध्यात्मज्ञान भी अनेक शुभ अध्यवसायों रूप नदियों से शोभित होता है। सागर की गंभीरता जैसे जगत् में प्रसिद्ध है वैसे अध्यात्मज्ञान की गंभीरता जगत् में विख्यात है। सागर के किनारे पर मनुष्य जैसे व्यापार करके लक्षाधिपति वनता है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप सागर के किनारे से महात्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र का व्यापार कर परमात्मपदरूप लक्ष्मी के स्वामी बनते है। समुद्र में अन्य लोग विष्णु और लक्ष्मी का वास मानते है, वैसे अध्यात्मसागर में परमात्मरूप विष्णु और केवलज्ञानरूप लक्ष्मी का वास है। सागर को मंथन करने से जैसे चौदह रत्न निकलते हैं, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप सागर का मंथन करने से आंतरिक गुणरूप चौदह रत्न निकलते हैं। सागर का दर्शन जैसे शुभ माना जाता है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप सागर का दर्शन भी मंगल रूप माना जाता है। सागर जैसे भरती से कूड़े को बाहर निकाल देता है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप सागर भी कर्मरूपी कूड़े को अपने से दूर कर देता है। अध्यात्मज्ञानरूप सागर मे महात्मा हमेशा डूबे रहते है। अध्यात्मज्ञानरूप सागर में अनेक रत्न है। अध्यात्मज्ञान को

पृथ्वी की उपमा दी जाती है, पृथ्वी जैसे अपने पर गिरते खराब अशुभ पदार्थो को सहन करती है वैसे अध्यात्मज्ञान भी सब प्रकार के परिषह सहन करने को शक्तिमान होता है। पृथ्वी पर जैसे अनेक वनस्पतिया ऊगती है वैसे आत्मा मे भी अनेक सद्गुण प्रकट होते है। समस्त मनुष्यो का आधार पृथ्वी है वैसे समस्त गुणो का आधार वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान को मेरु पर्वत की उपमा दी जा सकती है। मेरु पर्वत का धैर्य भी अध्यात्मज्ञान के आगे कुछ भी नही है। अध्यात्मज्ञान से मनुष्यो मे धैर्य शक्ति की उत्पत्ति होती है और उससे बडे-बडे धर्म कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है। अध्यात्मज्ञान से आत्मशक्ति पर विश्वास होता है और उसके कारण धर्म कार्यों मे जो-जो विघ्न आते हैं उन्हे हटाया जा सकता है और इससे अपने निश्चय से पीछा नही हटा जाता। हाथ मे लिए कार्य को कायर मनुष्य छोड देते है और उत्तम अध्यात्मज्ञानी मनुष्य तो, मरते दम तक हाथ मे लिए काम को छोडते नही। अपनी शक्ति मे विश्वास कराने वाला अध्यात्म-ज्ञान है। मेरु पर्वत जैसे अपने स्थान का त्याग नही करता वैसे अध्यात्मज्ञान भी आत्मा को छोडकर दूसरी जगह नही जाता। कल्पवृक्ष की तरह अध्यात्मज्ञान वास्तव मे मनुष्यो को इच्छित फल देता है। कल्पवृक्ष से भी अध्यात्मज्ञान की महत्ता कुछ अलग ही तरह की है। अध्यात्मज्ञान से नित्य-सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा लोकोत्तर पद कल्पवृक्ष कभी भी देने मे शक्तिशाली नही है। बाहर के बाग से भी अंतर के अध्यात्म-ज्ञानरूप बाग की शोभा उत्तम और अलग तरह की है। बाह्य बाग मे जैसे अनेक प्रकार की वेले सुशोभित होती हैं और उनमे प्रवेश करने वाले को शीतलता और सुगध का लाभ

मिलता है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप बाग मे समता की शीतलता और ध्यान की सुगन्ध महकती है, अध्यात्म बाग में प्रवेश करने वाले को उसका लाभ मिले बिना नही रहता। अध्यात्मज्ञान वास्तव में मेघ की तरह भव्य मनुष्यों का आधार है। मेघ से सम्पूर्ण दुनिया जीवित है। मेघ से जैसे पृथ्वी पर सर्वत्र बीज ऊग आते हैं और उससे पृथ्वी पर हरियाली दिखाई देती है, उसी तरह अध्यात्मज्ञानरूप मेघ से अन्तरात्मारूप पृथ्वी मे अनेक सद्गुणों के बीज ऊगते हैं और उनसे अन्तरात्मा में सर्वत्र गुणो की शोभा व्याप्त हो जाती है। भव्य जीवों में सर्व प्रकार के गुणो को प्रकटाने वाला वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। जैसे मेघ के बिना दुष्काल पड़ता है और जहां-तहां महामारी फैलती है जिससे जगत् मे मरण, खेद, शोक और अशांति का जोर बढ़ता मालूम होता है उसी तरह अध्यात्मज्ञानरूप मेघ की भव्य जीवों पर वृष्टि हुए बिना समत्वभावरूप दुष्काल और राग-द्वेष-ईर्षा, निन्दा-क्लेश आदि चोरो का जोर बढ़ता है। दया आदि भोज्य पदार्थों के बिना दुनिया को शांति नही मिल सकती और उसके बिना बाह्य और अंतर इन दोनों दिशा में भी जगत् मे अशांति फैलती है। अध्यात्मज्ञानरूप मेघ की सब भव्य जीव इच्छा करते हैं। जो अशांति मे आनन्द की इच्छा करते है वे अध्यात्मज्ञानरूप मेघ की इच्छा नही करते। अध्यात्मज्ञानरूप मेघ की वृष्टि वास्तव में पुष्करावर्त मेघ की वृष्टि से भी अनंतगुणी उत्तम है। अध्यात्मज्ञान को नदी की उपमा दी जाती है। अध्यात्मज्ञानरूप नदी में मनुष्य स्नान करते है और असंख्य प्रदेशों में शरीर निर्मल होता है। अध्यात्मज्ञानरूप नदी का प्रवाह जगत् मे बहता रहता है और वह अन्य जीवों की सहायता करता है। नदी से जैसे खेतों को पानी मिलता है और

खेती अच्छी पकती है, वैसे अध्यात्मज्ञानरूप नदी के शुभ अध्यवसायरूप जल से अनेक मनुष्यो के हृदयक्षेत्र पोषित होते हैं और उससे मनुष्यो के हृदय क्षेत्र मे धर्म की खेती पकती है। बावनाचदन के रस का छीटा देने से, गरम हुआ तेल भी ठडा हो जाता है, उसी तरह मनुष्यो की हृदयरूप कढाई मे आत्मा की परिणति वास्तव मे रोषरूपी अग्नि से लालचोल हो जाती है, परन्तु अध्यात्मज्ञान भावनारूप बावनाचदन के रस के छीटे दिये जाते है तो आत्मा मे अत्यन्त शाति उत्पन्न होती हैं। अध्यात्मज्ञानरूप बावनाचदन को प्राप्त कर कुरगडू ने क्रोध को जीत केवलज्ञान प्राप्त किया था, चडरुद्राचार्य के शिष्य ने अध्यात्मज्ञानरूप बावनाचदन के रस से अपने हृदय मे शाति धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था।

अध्यात्मामृत रस

अध्यात्मज्ञानरूप अमृतरस से मनुष्य अपनी आत्मा को नया जीवन देते हैं और अपनी आत्मा को हमेशा के लिए सुखी बनाते हैं। अध्यात्मज्ञानरूप अमृतरस का पान जो नही करते वे विषयरूप जहर का पान करते हैं और अपने जीवन को दुखी बनाकर परभव मे भी दुख के भोक्ता बनते है। पचेंद्रिय विषय सुख तो वास्तव मे जहर के समान है, उसमे हमेशा रत रहने मे अनतकाल तक दुख के भागी होना पडता है। पचेंद्रिय विषय सुख भोगने मे अनेक जीव हमेशा प्रयत्न करते रहते है, उनमे सुख दिलाने वाला अमृतरस मे रुचिर अध्यात्मरस है। आत्म-सुख की प्रतीति कराकर आत्मा मे विचरण कराने वाला उत्तम मे उत्तम अध्यात्मरस है। वृक्ष मे रहा रस जैसे सम्पूर्ण वृक्ष का पोषण करता है वैसे, अध्यात्मरस भी आत्मा के सम्पूर्ण गुणो

का पोषण करता है और आत्मा की शुद्धि कर उसे परमात्मा-रूप बनाता है। आत्मा के गुणों के बाग का सींचने वाला और उसे विकसित करने वाला अध्यात्मजल है। अध्यात्मरस में डुबकी लगाकर अनुभवरूप मात्रा का सेवन करने वाले मनुष्य, अपनी आत्मा को पुष्ट कर नया चैतन्य प्रकट करते हैं। वृक्ष की अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का आकार भिन्न २ होता है, किन्तु उन शाखाओं और प्रशाखाओं में बहनेवाला रस तो एक समान ही होता है; उसी तरह भिन्न भिन्न गच्छ, मत, आचार और धर्म की भिन्न भिन्न शाखाओं और प्रशाखाओं को पोषण करनेवाला अध्यात्मरस तो एक ही है। मनुष्यों के मस्तक पर धूप आ रही हो, गरम लू चारों तरफ चल रही हो, प्यास से गला सूख गया हो, प्यास से जीव व्याकुल हो रहा हो, आंखें बैठ गई हों, पैरों के चलने की शक्ति मंद हो गई हो, इतने में शीतल जल का कुँआ मिल जाय तो सब तरह की पीड़ा दूर हो जाती है और शीतल जल से प्यास दूर हो जाती है; उसी तरह मनुष्यों को चारों तरफ से अनेक प्रकार की उपाधियों का ताप लगता हो, प्यास के मारे अनेक प्रकार के दुःख का अनुभव होता हो, आत्मबल मद हो, ऐसे समय अध्यात्मरस का अमृत का घड़ा मिले तो वास्तव में सब प्रकार के दुःख दूर हुए बिना नही रहते। अध्यात्मरस में इस तरह की शक्ति है कि हजम होने के बाद आत्मा में नया चैतन्य प्रकटाकर आत्मा में आनंद का आविर्भाव करता है। जो मनुष्य अध्यात्मरस का पान करते है उन्हे अन्य रसों का स्वाद अच्छा नही लगता और उनके मन में अध्यात्मरस चखने की भावना पैदा होती रहती है। एक बार जिसने अमृतरस पिया हो उसे रूखा सूखा भोजन अच्छा नही लगता, उसी तरह एक बार अध्यात्मरस का पान

करने से बाद दूसरे रसो पर रुचि नही होती है। इसे ही अध्यात्मरस की महत्ता समझना। अध्यात्मरस का सिरछत्र जिसके मस्तक पर हमेशा हो उसे ही आनदरस का भोगी और त्रिभुवन मे एक सत्ताधारी जानना। जो अध्यात्मज्ञान की सत्ता से पाचो इद्रियो पर हुकम चलाते है उन्हे सच्चे राज्यकर्ता जानना। अध्यात्मज्ञानरूप सूर्य की किरणो से जिसके हृदय मे प्रकाश होता है वे मनुष्य दुर्गुणो को जीतने मे समर्थ होते है। एक कवि ने कहा कि "स्थूल साम्राज्य की अपेक्षा सूक्ष्म अध्यात्म-साम्राज्य की लीला अलग ही प्रकार की है।" अध्यात्मज्ञान की सृष्टि की सुन्दरता को देखे बिना मनुष्य की जिन्दगी व्यर्थ है। एक कवि ने कहा है कि — "तुम अध्यात्म मे गहरे उतरो, तुम्हारे मन की शकाए अपने आप नष्ट हो जायगी।" एक कवि ने कहा है कि — "अध्यात्मा मे ऐसा जुस्सा बहता है कि उस जुस्से मे चढा आत्मा सम्पूर्ण जगत् की शहनशाही के स्वय ऊपर होकर अपूर्व आनन्दरस की मस्ती मे डूबा रहता है।" एक महात्मा कहते हैं कि — 'मोक्षमार्ग की सच्ची सीढी अध्यात्मज्ञान है।" अध्यात्मज्ञान का मार्ग प्राप्त होना यह कोई साधारण बात नही है। अध्यात्मज्ञान के मार्ग पर टिके रहना तथा अध्यात्मज्ञान का स्वाद लेना यह कोई सामान्य बात नही है। सपूर्ण जगत् मे सूर्य की तरह सबको प्रकाश देने की इच्छा होती हो तो, अध्यात्मज्ञान के मार्ग पर आओ। अध्यात्मज्ञान वास्तव मे तुम्हारे हृदय मे रहे हुए अनेक दोषो को दूर करने मे वैद्य की गरज पूरी करेगा।

अध्यात्मरस के रसिक मनुष्यो को अपने अधिकार का पुन पुन निरीक्षण करना चाहिए और अधिकार के लिए योग्य अनुष्ठान करने मे कमी नही रखना चाहिए। मनुष्य के

तो तेहशुं रढ मंडो रे—नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निपेक्षा भाव निक्षेपा की साध्य—शून्यता से त्याग करने लायक है। शुद्ध अध्यात्मज्ञानी द्रव्य निक्षेपा के कारण की अपेक्षा से उपासक है, परन्तु यदि वे सदाचार और सद्विचारों से आत्मा को उत्तम बनावें तो भाव अध्यात्म द्वार में प्रवेश करने वाले गिने जा सकते हैं। आत्मा के सद्गुणों को प्रकटाना यह भाव-अध्यात्म समझना। श्रीमद् आनंदघनजी भावअध्यात्म की अत्यंत उपयोगिता बताते हैं इसमें बहुत रहस्य समाया हुआ है। भावअध्यात्म की उपयोगिता सर्वथा मान्य है, उसे ही साध्य बिंदु मानकर जो जो अनुष्ठान करने के है उन्हें करना चाहिए। आत्मा के परिणाम की शुद्धि यही अध्यात्म है, ऐसा बताकर उन्होंने भाव अध्यात्म की तरफ मनुष्यों की वृत्ति करने के लिए, अपनी रुचि के अनुसार शास्त्र के आधार से प्रयत्न किया है।

भाव अध्यात्म में प्रवेश करने के लिए दव्यादि निक्षेपा की जरूरत है। अनेक भवों के अभ्यास से भावाध्यात्म तरफ गमन किया जा सकता है। अपने को अध्यात्म की तरफ गमन करने की इच्छा रखनी चाहिए; परन्तु उससे पहले एक उपयोगी सूचना यह लक्ष्य में रखना है कि, मेरा अधिकार उसके लिए है कि नहीं यह निर्णय करना, और अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते जो जो सत्क्रियायें करने योग्य हों उनका आदर करना। घर बनाते समय पहले नींव मजबूत की जाती है वैसे अध्यात्म की तरफ जाने से पहले सदाचार की नीव मजबूत करना चाहिए। अध्यात्मज्ञान से मेरी आत्मा के गुण प्रकट होने वाले है ऐसा मन में दृढ़ निश्चय करना, और सत्कार्यो के व्यवहार से पीछे नहीं हटना, उसके लिए पूरा उपयोग रखना। अध्यात्म-

ज्ञानरूप अग्निबोट मे बैठकर मोक्षनगर की तरफ प्रयाण करने की जरूरत है।

अध्यात्म की तरफ कौन जाता है ?

जो मनुष्य संसार मे सत्य क्या है उसकी खोज करता है, वे अध्यात्म की तरफ आते हैं। जो मनुष्य अपनी आत्मा का सहज आनद प्राप्त करने की इच्छा करते है वे अध्यात्म की तरफ जाते हैं। जो मनुष्य सासारिक दु खो का नाश करने की इच्छा करते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो जीवन का मुख्य हेतु ढू ढते है वे अध्यात्म की तरफ जाते हैं। जिनकी तत्त्व बुद्धि हुई हो वे अध्यात्म की तरफ जाते है जिनकी साध्य लक्ष्य बुद्धि हुई हो वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जिनकी वैराग्य परिणति हुई हो, वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते हैं। जिन्हे स्थूल जड पदार्थो मे सुख नही मालूम पडता वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जिनके हृदय मे अनुभव दशा प्रकट हुई है वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जिन्हे कर्म और आत्मा का भेदज्ञान द्वारा स्वरूप समझ मे आया हो वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो क्रोध, मान, माया और लोभ का नाश करने की इच्छा करते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते हैं। जो जगत् मे जीवो का भला करना चाहते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो दया के तत्त्व की इच्छा करते है वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो जगत् को निर्दोष बनाना चाहते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो अपना सच्चा स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो शान्ति चाहते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ गमन करते है। जो समानभाव प्राप्त करना चाहते है वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है। जो धर्म

के गुप्त तत्त्व जानने की इच्छा करते है वे अध्यात्ममार्ग की ओर जाते हैं। जो मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते हैं। जो मनुष्य अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है वे अपनी आत्मा के समान दूसरो की आत्माओं को मानने वाले होने से, उनसे वस्तुत. किसी जीव का अशुभ नही हो सकता। जो मनुष्य अध्यात्ममार्ग की तरफ जाते है वे कर्मो को खपाते हैं और आत्मसृष्टि में प्रवेश करते है। 'भोकना और आटा चाटना' ये दो काम जैसे कुत्ते से एक साथ नही हो सकते, वैसे राग-द्वेष को वढ़ाने और मुनिमार्ग के भाव-चारित्ररूप अध्यात्ममार्ग मे स्थिर रहना ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते, 'अध्यात्म और मोह' इन दोनों का मेल नहीं वैठता।

मेरा अच्छा हो, मेरी आत्मा मे सुख प्रकटे ऐसी इच्छा वाले मनुष्यों को मन में होने वाली अशुभ वासनाओं का सामना करना चाहिए। मन में उत्पन्न होने वाले कषाय के परिणाम को जीतना चाहिए। मनुष्यों को धीरे धीरे मन को आत्मा की तरफ लगाना चाहिए। क्षण क्षण में मन में होने वाले परिणाम की तरफ उपयोग रखना चाहिए। कर्म के शुभाशुभ विपाक का स्वरूप समझने से सहज ही इस संसार की तरफ होने वाली मन की प्रवृत्ति भटकती है। अज्ञानदशा में बाह्य दुनियादारी की हलचल में रस आता है, परन्तु वाद में आत्मदशा मे आंतरिक गुणों की प्राप्ति के लिए रस आता है। आत्मा के गुण पर प्रेम करना शुरू किया यानी मनुष्यों को समझना कि, अब हमारी दशा वदली है, अर्थात् हमने आत्मा के मार्ग की ओर गमन किया है। जिस समय अपने शुद्ध स्वरूप की तरफ जाया जाता है उस समय आत्मा की

परिणति मे बहुत परिवर्तन हो जाता है। सूई मे डोरा पिरोने के बाद सूई कचरे मे गिर जाती है फिर भी वह मिल जाती है, उसी तरह अध्यात्मतत्त्व के स्वरूप का स्पर्श होने के बाद भी कभी कर्म का जोर बढ जाय फिर भी बाद मे मोक्षमार्ग की तरफ जाया जा सकता है और अपने शुद्ध धर्म की आराधना की जा सकती है।

अध्यात्म बल

अध्यात्मज्ञान से प्राप्त होने वाले अध्यात्मबल की अद्भुत शक्ति है। व्यवहारवादियो के उपसर्गरूप अग्नि के बीच मे रहने वाला अध्यात्मज्ञानरूप स्वर्ण अपने मूल रग को कभी नही बदलता चाहे जितने बादलो के आवरणो से आच्छादित हुआ सूर्य अपने मूल रूप को नही बदलता, वैसे अनेक उपाधियाँ आने पर भी अध्यात्मज्ञान अपना स्वरूप नही बदलता। अध्यात्मज्ञान बल की तुलना करने वाला जगत् मे कोई दूसरा जड पदार्थ नही है। अध्यात्मज्ञान से अध्यात्मबल प्राप्त किया जा सकता है। अध्यात्मज्ञान मे इतनी शक्ति है कि, वह कर्म के हमले से आत्मा का सरक्षण करता है और आत्मा के गुणो का प्रकाश करने मे समर्थ होता है। आत्मा को सवर मे लाने वाला वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। आत्मा को पाच समिति से युक्त करने वाला अध्यात्मज्ञान है। तीन गुप्ति के सामने आत्मा का करना हो तो अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति करना चाहिए। इस जग मे अहकार दोष के आधीन बहुत से जीव हो जाते है। अहकाररूप पर्वत का नाश करने के लिए वज्र के समान वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। आत्मारूप आकाश मे सूर्य की तरह प्रकाश करने वाला उत्तरोत्तर अध्यात्मज्ञान है। आत्मा मे

गहरा उतरने के लिए जगत् में यदि कोई साधन है तो वस्तुत: अध्यात्मज्ञान ही है। क्षमादि दस प्रकार के धर्म की उत्पत्ति करने के लिए अध्यात्मज्ञान समर्थ है। मृत्यु के समय आत्मा को अपने उपयोग में लाने वाला कोई उत्तम ज्ञान है तो वह वस्तुत अध्यात्मज्ञान है। इस दुनियादारी के समस्त दु:खों को भूल जाने की कोई उत्तम दवा है तो वह अध्यात्मज्ञान है। शरीर को पुष्ट करने वाला जैसे दूध है वैसे आत्मा को पुष्ट करने वाला वास्तव में अध्यात्मज्ञान है। पानी के विना जैसे किसी भी प्रकार का भोजन नही वन सकता, वैसे अध्यात्मज्ञान विना कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आत्मा को आत्मपन मे अमर करने वाला, कोई रस है तो वह अध्यात्मरस है आत्मा को अलमस्त करने में उत्तम पाक है तो वह अध्यात्मपाक ही है। जो मनुष्य अध्यात्मज्ञान से हीन होते है वे आरोपों से आरोपित धर्म को सच्चे धर्म के रूप में स्वीकार करते है और अपनी आत्मा के मूल धर्म को भूल जाते है। जो मनुष्य अध्यात्मभाव से हीन होते है वे औदयिक भाव के कार्यो में धर्म वुद्धि रखते हैं। लकड़ी की पुतली को कोई पागल मनुष्य, असली स्त्री मान लेता है, वैसे अज्ञानी जीव वास्तव में अधर्म को भी धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं आत्मा के गुणों से दूर रहते है। जैसे कोई स्त्री अपनी वगल मे लड़का हो और सारे गॉव में लड़के को ढूंढने निकलती है? उसकी तरह अध्यात्मदृष्टि से हीन मनुष्य, आत्मा को भूलकर इधर उधर धर्म के नाम की आवाज लगाकर ढूंढने निकलता है। "**अज्ञानी पशु आत्मा**" "अज्ञानी आत्मा पशु के समान है। अध्यात्मज्ञान के बिना धर्म कहाँ मिला है? धर्म किस प्रकार का होता है? आदि नही समझा जा सकता। अध्यात्मज्ञान की अरुचिवाले जीव चाहे

अध्यात्म को धिक्कारे! परन्तु जैसे सूर्य अरुचिवाले चिमगादड सूर्य के सामने नही देख सकते, इससे सूर्य की महिमा कम नही होती, वैसे अज्ञानी जीवो के शोरगुल से अध्यात्मज्ञान की महिमा कम नही होती। सम्पूर्ण जगत् के धर्मो के मूल को देखे तो अध्यात्मज्ञान मे ही समाविष्ट दिखाई देगा। जिस धर्म मे अध्यात्मविद्या नही है उस धर्म की जड गहरी नही होती और इससे अध्यात्मविद्या के बिना वाला धर्म किसी भी जोर के धक्के से मूल से नष्ट हो जाता है। शिक्षितो के आगे अध्यात्मज्ञान बिना कोई धर्म परीक्षा मे टिक नही सकता। अध्यात्मज्ञान बिना कोई धर्म विद्वानो के हृदय मे गहरी असर नही कर सकता। दुनिया की समस्त वस्तुओ पर से ममता छुडाने वाला वस्तुत अध्यात्मज्ञान है। जिन मनुष्यो की बुद्धि स्थूल है और जिनकी बुद्धि सूक्ष्म तत्त्वो मे प्रवेश नही करती ऐसे मूर्ख मनुष्य, अध्यात्मज्ञान के अधिकारी नही हो सकते। पार्लियामेट का प्रधान बनना जिस तरह कठिन है उसी तरह अध्यात्मज्ञान का अधिकारी बनने का कार्य भी मुश्किल है। आत्मा के सहज सुख का स्वाद लेना हो तो अध्यात्मज्ञान का अधिकारी बनना चाहिए। जो लोग अध्यात्मज्ञान से शून्य होते हैं उनके आचरण का पता लगाया जावे तो चार्वाक की तरह, ऐहिक सुखो के लिए उनकी समस्त प्रवृत्ति मालूम पडेगी। अध्यात्मज्ञानरूप सूर्य के सामने तारो की तरह अन्य ज्ञान भी मद पड जाता है उस समय अन्य पदार्थो के ज्ञान की कोई गिनती नही होती। ऐसा उत्तम अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना यह सद्गुरु की पूर्ण कृपा बिना सम्भव नही हो सकता। हीरण जैसे सिह से डरता है वैसे बालजीव विषयो के वश मे होने से हीरण जैसे बन जाते हैं और इसलिए वे अध्यात्मज्ञानरूप सिह से डरते हैं। किसी

बालक को हाउ आया ! ऐसा कहकर डराते हैं, वैसे बाल जीवों को एकांतवादी अध्यात्मज्ञान को हाउ कहकर डराते है; इसलिए वे बाल-जीव अध्यात्मज्ञान की रुचि धारण नहीं कर सकते । और इससे परभव में भी अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति नही कर सकते । अध्यात्मज्ञानरूप अमृत में जहर की वृद्धि करने वाले एकांतवादी स्वयं सुख प्राप्त नही करते और दूसरों को अंतराय देकर आठवें अंतराय कर्म का बंध करते हैं। और जिससे वे संसार चक्र में बारम्बार परिभ्रमण करते है। आध्यात्मिक शक्ति को विकसित करने के लिए अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता है; ऐसा ग्रन्थकार पुकार-पुकार कर कहते है। आध्यात्मज्ञान विकसित करने के लिए आत्मार्थी पुरुष प्रयत्न करते है और वे किसी भी मनुष्य की रुचि का नाश नही करते। अध्यात्मज्ञान यह आत्मा के सद्गुणों के उद्यान को विकसित करने के लिए पुष्करावर्त मेघ की तरह है। कितने ही मनुष्य ऐसा कहते है कि अध्यात्मशास्त्र अथवा अध्यात्मज्ञान से लोगो की क्रियाओं से श्रद्धा उठ जाती है, इसलिए अध्यात्म-शास्त्र पढ़ने की अथवा अध्यात्मज्ञान करने की मनाई की गई है, इसके उत्तर में कहना है कि अध्यात्मशास्त्रों से या अध्यात्म-ज्ञान से धर्म की वा धर्म क्रिया की श्रद्धा कभी नही हटती। अध्यात्मज्ञान से आश्रव क्रिया करने की इच्छा नही होती, परन्तु संवर की क्रिया मे तो अध्यात्म की जरूरत होती ही है और इसके लिए वीस स्थानक की पूजा में श्रीमद् विजयलक्ष्मी-सूरिजी कहते है कि—'**अध्यात्म वण जे क्रिया ते तो बालकचाल, तत्वारथथी प्रीछजो, नमो नमो क्रिया विशाल ।**' अध्यात्मज्ञान से विधि पूर्वक संवर की क्रिया करने में रुचि पैदा होती है और उसके माफिक प्रवृत्ति होती है। मिश्री खाने से किसी की

मृत्यु नही होती परन्तु गधे की मृत्यु होती है इसमे गधे का दोष है मिश्री का नहीं। श्रीमद् वीर प्रभु छद्मस्थावस्था मे अध्यात्मज्ञानी थे, इसलिए वे दीक्षा लेने के बाद सवर क्रिया मे तत्पर हुए थे। कितने ही कहते है कि, अध्यात्मज्ञान तो तेरहवे गुणस्थानक पर होता है, ऐसा जो कहते है वे यदि श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्यायकृत अध्यात्मसार ग्रथ पढे तो उनकी भूल दूर हो जायगी। चौथे गुणस्थानक मे अध्यात्मज्ञान है तो इससे ऊपर के गुणस्थानक मे अध्यात्मज्ञान होगा ही इसमे कोई आश्चर्य नही। श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय जैसे महाज्ञानी पुरुषो के वचनो को जो नही मानते और उनकी साक्षी दी जाती है तो वे मानते नहीं, ऐसे बालजीव अध्यात्म का स्वरूप समझे बिना अध्यात्मनाम से भडककर उलटे मार्ग पर जाते है, ऐसा समझना। आगम के आधार से जो भव्यजीव अध्यात्मज्ञान का स्वरूप समझते है उन्हे आगम के आराधक समझना। इस काल मे आगम के आधार से अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

अध्यात्मज्ञान से कुपथ नही निकाला जा सकता

कितने ही मनुष्य अपनी जैन धर्म सम्बधी सूक्ष्मबुद्धि के अभाव मे कहते हैं कि "अध्यात्मज्ञान होने से कुपथ निकाला जा सकता है।" ऐसा जो कहते हैं उन्हे अध्यात्मज्ञान का स्वरूप समझे बिना समस्त क्रियाओ का आधारभूत अध्यात्मज्ञान को कलकित करने वाले समझना, क्योकि अध्यात्मज्ञान से कुपथ निकालने की बुद्धि होती है ऐसा जैन शास्त्रो मे कही नही कहा गया है। इस पर भी जो उक्त कुपथ निकालने का आरोप वास्तव

में अध्यात्मज्ञान पर डालते है उन्हें जैनागमों के विरुद्ध वात करने वाला समझना। इतना तो कहा जा सकता है कि एकान्त से जो व्यवहारवादी हों वा एकान्त से जो अध्यात्मवादी हों वे एकान्तवादरूप कुपंथ का सेवन करने वाले है; परन्तु इससे यह नहीं समझना कि अनेकांतगर्भित ऐसा अध्यात्मज्ञान वा व्यवहार में पंथ निकालने का दोष उत्पन्न होता है। कितने ही मनुष्य कहते हैं कि, जिन्हें अध्यात्मज्ञान उत्पन्न हुआ हो उनके आचरण तो उत्तम ही होते है और वे व्रतधारी होते हैं ! ऐसा कहने वालों के उत्तर में बताना पड़ेगा कि—जो एकांत से अध्यात्मज्ञान का ऐसा मतलव निकालते हैं वे, गुणस्थानक के स्वरूप को जानने वाले नहीं हैं। जैन शास्त्रों में कहा है कि "पहले ज्ञान उत्पन्न होता है और वाद में शुभ आचाररूप चारित्र उत्पन्न होता है" चौथे गुणस्थानक में अध्यात्मज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु पच्चक्खाण करना, व्रत लेना आदि चारित्र के आचरण उत्पन्न नही होते। पांच अनुत्तर विमान के देवताओं को सम्यग्ज्ञानरूप अध्यात्मज्ञान होता है, परन्तु उनमें व्रत पच्चक्खाण चारित्र के आचार नहीं होते, **"अध्यात्मज्ञान और शुभाचार रूप चारित्र दो साथ हों तो दूध में शक्कर मिलने जैसा समझना।"** अध्यात्मज्ञान होने पर भी व्रत पच्चक्खाणरूप चारित्र न हो तो वहां कर्म का दोष है, परन्तु अध्यात्मज्ञान का दोप नहीं है।

जैन तत्त्व का अभ्यासी मनुष्य क्या दुराचारी हो ! इसमें जैन तत्त्वज्ञान को अभ्यास का कोई दोप नहीं है, तथा कोई अध्यात्मज्ञानी व्रत पच्चक्खाण आदि से रहित हो, इसमें अध्यात्मज्ञान का दोष नही है, परन्तु कर्म का दोष है। हाथ में दीपक हो और गुस्से में कुए में गिर पड़े तो इसमें दीपक का दोप

नही माना जायगा, परन्तु क्रोधरूप प्रमाद का दोष गिना जायगा, तद्वत् कोई अध्यात्मज्ञानी चारित्र के आचारो से विमुख हो तो इसमे प्रत्याख्यानावरणीय कर्म आदि कषाय-प्रमाद का दोष समझना। कोई मनुष्य ऐसा कहते है कि "स्त्री को पढाया जाय तो स्त्री व्यभिचारिणी हो जाती है"। ऐसा कहने वाले के वचन मे जैसे अज्ञानरूप दोष है, वैसे अध्यात्मज्ञान पढने से मनुष्य चारित्राचार शून्य हो जाता है ऐसा कहने वाले के वचन मे भी अज्ञानतारूप दोष समझना। कितने ही एकात व्यवहार-वादी बाल जीवो को कहते है कि, भाइयो! बहनो! अध्यात्मज्ञान से तो प्रतिक्रमण से श्रद्धा उठ जाती है—अध्यात्मज्ञानी प्रतिक्रमण नही करते इसलिए हमारी बात मे विश्वास करो और अध्यात्मज्ञान के नजदीक मत जाओ, इस तरह जो बाल जीव कहते हैं उन्हे अध्यात्मशास्त्रो का ज्ञान नही होता।

सच्चा प्रतिक्रमण अध्यात्मज्ञान से ही होता है

हे भव्यजीवो! अध्यात्मज्ञान ऐसा कदापि नही कहता कि, तुम प्रतिक्रमण मत करो, वरन् अध्यात्मज्ञान तो प्रतिक्रमण के अध्यवसाय को उत्पन्न करता है। **सच्चा प्रतिक्रमण किये बिना कोई जीव मोक्ष मे नहीं गया और भविष्य मे कोई जाने वाला नहीं, ऐसा अध्यात्मज्ञान बताता है।** अध्यात्मज्ञान से सच्चा प्रतिक्रमण किया जा सकता है और आश्रव के हेतुओ को रोक द्रव्य प्रतिक्रमण की क्रिया मे वास्तविक भावरस डालकर द्रव्य प्रतिक्रमण को भाव प्रतिक्रमण के रूप मे लानेवाला वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है।

सच्चे अध्यात्मज्ञानी वास्तविक प्रतिक्रमण, पूजा आदि का निषेध नहीं करते। कितने ही एकात निरक्षर व्यवहारवादी कहते है कि, अध्यात्मज्ञानी आत्मा को परमात्मा मानते हैं

यह गलत है। आत्मा को क्या परमात्मा माना जाय ? इस तरह कहनेवाले एकांत निरक्षर व्यवहारवादी यदि आगम का अध्ययन करें तो संग्रहनय सत्ता की अपेक्षा से आत्मा को परमात्मा मान सकते है, अपेक्षा से आत्मा को सत्ता से परमात्मा कहा जाय तो अनेकांत दृष्टि से किसी तरह का विरोध नही होता। आत्मा ही समस्त कर्मो का क्षयकर परमात्मा वनता है। आत्मा यदि सत्ता से परमात्मा न हो तो व्यक्ति से परमात्मा नहीं होता। इतना तो कहना पड़ता है कि, जो लोग आत्मा परमात्मा है ऐसा एकांत संग्रहनय को स्वीकार कर अन्य नयों की मान्यता को मिटाना चाहते हों तो वे मिथ्यात्वी है। जैन शास्त्र में सात नय है और सात नयों मे से किसी एक को भी मिटाने को नहीं कहा है। सात नय के सात सौ भेद होते है। सात नयों में से कोई भी नय को मिटावे **तो उसे मिथ्यात्वी समझना।** आत्मा को सत्ता की अपेक्षा से परमात्मा मानकर ऊपर के नयोकथित धर्म की आराधना न की जाय तो आत्मा परमात्मा नही बन सकता। आत्मा को परमात्मा मानकर वैठा नहीं रहना चाहिए, परन्तु **आत्मा वह सत्ता से परमात्मा है ऐसा जानने के बाद, श्रावक-व्रत वा साधुव्रत अंगीकार करने की आवश्यकता है।** श्रावक अथवा साधुव्रत अंगीकार करने के वाद उसका पालन करना जरूरी है। श्रावक और साधु व्रत का पालन करते हुए भी अंतर में उपयोग रखने की जरूरत है। आत्मा को इस प्रकार उच्च गुणस्थानक भूमि पर चढ़ने के लिए नयों की विचार श्रेणी बताई है वह वास्तव में सापेक्षरूप से मानना योग्य है। श्री वीरप्रभु ने कहा है कि—सात नयों में से एक नय को भी मिटावे उसे मिथ्यात्वी समझना। किसी भी वस्तु पर सात

नय का प्रयोग करना सीखना चाहिए, आत्मा पर सात नयो को उतारना चाहिए।

अध्यात्मज्ञान होने के लिए नयो की आवश्यकता

आत्मतत्त्व का ज्ञान करना कोई सामान्य बात नही है। आत्मतत्त्व का ज्ञान करने के लिए सात नय और सप्तभगी के ज्ञान की जरूरत है। सात नय और सप्तभगी का भी गुरुगम-पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। गुरुगम बिना तो एक क्षण भी वीतराग के शासन मे चलने वाला नही है। गुरुगम बिना जैन सिद्धात का हृदय मे सम्यक्परिणमन नही होता। आत्मतत्त्व सम्बन्धी दुनिया मे अनेक ग्रन्थ लिखे हुए है। दवा लेने से पहले जैसे डाक्टर की सलाह की उपयोगिता है वैसे आत्मज्ञान के ग्रन्थ पढने से पहले गुरुगम की उपयोगिता है। जैनागमो मे योगोद्वहन कर गुरु से सूत्र पढने की आज्ञा दी है, यह भी इस बात को सिद्ध करता है कि—आचार्यो या उपाध्यायो का गुरुगम लिए बिना पढने से, अर्थ का अनर्थ हो जाय और पढने वालो मे एक सूत्र के अर्थ सम्बन्धी भी भिन्न-भिन्न मत हो जाय, इसलिए योगोद्वहन कर गुरु के पास अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सूत्र पढने की आवश्यकता सिद्ध होती है। श्री सर्वज्ञप्रणीत जैनागमो द्वारा अध्यात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की जरूरत है। जैनागमो की श्रद्धा और पूज्यता-पूर्वक शास्त्रो की आराधना कर जो अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया जाता है उससे कदापि शुष्कता प्राप्त नही होती। जैनागमो द्वारा प्रथम अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना जिससे सम्यग् अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति हो सके। गुण दोष जाने बिना चाहे जैसी दवा पेट मे डालने वाला मनुष्य मृत्यु की शरण मे जाता है, तद्वत् सम्यग्शास्त्रो और मिथ्याशास्त्रो

का स्वरूप समझे विना चाहे कोई ग्रन्थ पढ़कर, स्वच्छंदता को स्वतंत्रता मानकर अध्यात्मज्ञान के लिए प्रयत्न करने वाले की विपरीत दशा देखने में आती है। एक-एक नय की दृष्टि से बनाये गये आत्मतत्त्व सम्बन्धी ग्रन्थ, अन्य नयों की सापेक्षता बिना आत्मतत्त्व का बोध बताने में समर्थ नहीं होते। समुद्र के जलबिंदुओं को पार किया जा सकता है परन्तु शास्त्रों के रहस्यों का पता नहीं पाया जा सकता। तैरना न आता हो और समुद्र मे कूदा जाय तो उससे मृत्यु ही होगी। इसी तरह शास्त्रो की अपेक्षा समझे विना आत्मतत्त्वसम्बन्धी गुरुगम विना पढ़ा जाय तो विपरोत फल मिल सकता है। **एकान्त से दृश्य ऐसे व्यवहारनय को मानने वाले मनुष्यों से चार्वाक अर्थात् जड़वाद की उत्पत्ति हुई है।** ऋतुसूत्र नय को एकांत से स्वीकार कर, ऋतु-सूत्र नय से आत्मतत्त्व का कथन कर और अन्य नय को हटाकर बौद्ध दर्शन पैदा हुआ है। एकांत संग्रहनय से अद्वैतवाद उत्पन्न हुआ है; इस प्रकार प्रत्येक नय की एकांत मान्यताओं के आत्म-तत्त्व सम्बन्धी दर्शन दुनिया में बहुत है, उनके बारे में विवेचन किया जाय जो एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाय। **हरएक नय की सम्पूर्ण अपेक्षा को स्वीकार कर आत्मतत्त्व का कथन करने वाला दुनिया में कोई भी दर्शन है तो वह वास्तव में जैन दर्शन है।** सारी दुनिया के दर्शनों को नयों की अपेक्षा से सत्य और असत्य का भेद कर न्याय देने वाला जैन दर्शन है।

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार आत्मतत्त्व का ज्ञान किये विना जैन शैली से अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अध्यात्मज्ञान के दो-चार पद पढ़ लिए इतने मात्र से अध्यात्मज्ञानो नही बना जा सकता। जैन दर्शन की शैली से अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के बाद अन्य दर्शनकार

अध्यात्म की कैसी व्याख्या करते है यह जानना सरल हो सकता है ।

सप्तभगी से आत्मज्ञान

सप्तभगी से आत्मद्रव्य के गुण और पर्यायो का स्वरूप समझने से अनेकात धर्म का सम्यग् बोध होता है । और उससे आत्मा के अनत धर्म किस किस अपेक्षा से अस्तिरूप मे और नास्तिरूप मे घटित होते है इसका पता चलता है, अन्य दर्शनियो को सप्तभगी का स्वरूप नही समझने से वे सप्तभगी पर प्रहार करने का प्रयत्न करते हैं । गुरुगम विना एकदम सप्तभगी का ज्ञान प्रकट नही होता । शकराचार्य वगैरह ने ब्रह्मसूत्र द्वारा सप्तभगी का खण्डन करने का प्रयत्न किया है, परन्तु सप्तभगी का खण्डन करने से पहले सप्तभगी का गुरुगम पूवक ज्ञान प्राप्त किया होता तो वे सप्तभगी का खण्डन करने का प्रयत्न नही करते । सप्तभगी का ज्ञान प्राप्त कर उसके द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना जरूरी है । सप्तभगी का ज्ञानप्रदेश अत्यत विस्तीर्ण है । सप्तभगी के ज्ञानरूप प्रदेशो की पूरी जानकारी प्राप्त कर सकें ऐसे विरले ही गीतार्थ पुरुष होते है । सप्तभगी के खण्डन का प्रयत्न करना यह हवा के सामने तोपो से युद्ध करने के समान है । सप्तभगी द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान करने वाले महात्मा अध्यात्मज्ञान मे बहुत गहरे उतर जाते हैं । एक वस्तु को करोडो दृष्टि से देखा जाय तब भी उसमे कुछ न कुछ देखना बाकी रह जाता है । एक वस्तु को असख्य दृष्टि से देखा जाय तब श्रुतज्ञान की अपेक्षा से उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा कहा जा सकता है । असख्य-अनत दृष्टियो की सामर्थ्य भी जिसमे समा जाती है ऐसे सप्त-

भंगी के ज्ञान का पार पाना दुर्लभ है। फिर भी गुरुगम द्वारा सप्तभंगी का ज्ञान प्राप्त करने का दिन-रात प्रयत्न करने से सप्तभंगी के ज्ञान की सहज झांकी होती है। सप्तभंगी का ज्ञान प्राप्त कर आत्मद्रव्य के अनंत गुण और अनंत पर्यायों की सप्तभंगी से शोध करना चाहिए। आत्मा के अनेक धर्म पर सप्तभंगी उतार कर आत्मद्रव्य का ज्ञान करने से असंख्य दृष्टियों जितना ज्ञान प्राप्त होना है, और इससे एक एक दृष्टि से निकले पंथों पर वाद में कुछ भी महत्त्व नजर नही आता। सप्तभंगी से आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु परंपरा की शरण अंगीकार करना चाहिए। गुरु के चरण कमलों की सेवा करने से वहुत वर्षो वाद आत्मद्रव्य-ज्ञान का परिपक्व अनुभव प्राप्त होता है। जितनी गुरुगम की कमी उतनी आत्मज्ञान की कमी समझना।

आत्मद्रव्य की सम्यक् प्रतीति

आत्मद्रव्य को नय और सप्तभंगी द्वारा समझने से आत्मद्रव्य की सम्यक् प्रतीति होती है, पश्चात् आत्मद्रव्य के साथ वांधे कर्मो का नाश करने की सच्ची रुचि प्रकट होती है। आत्मद्रव्य का ज्ञान प्राप्त करने से उपशमादि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, और उससे द्वितीया के चाँद की तरह, आत्मतत्त्व का प्रकाश खिल सकता है। आत्मा स्वयं अपना स्वरूप पहिचानता है और उसका अनुभव करता है तव अद्‌भुत आनंदरस का भोक्ता वनता है। और उसे अपूर्व सुख प्राप्त हुआ है ऐसा निश्चय करता है। सम्यक् चेतनतत्त्व की प्रतीति के पश्चात् आत्मा अपना शुद्ध चारित्र प्राप्त करने के लिए व्यवहार और निश्चय नय का अवलंबन लेकर प्रयत्न करता है। वीतराग के वचनों का परिपूर्ण रहस्य समझकर वह आनन्द

मग्न हो जाता है। वर्तमान काल मे 'अल्पज्ञान और अतिहानि' ऐसा प्रसग उपस्थित हो ऐसी स्थिति मे बहुत से मनुष्य देखने मे आते हैं। आत्मबधुओ को आगमो के आधार पर आत्मज्ञान के गहरे प्रदेश मे उतरने का प्रयत्न प्रतिदिन करना चाहिए। आत्मज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है ऐसा कहने वाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु स्याद्वाद दृष्टि से आत्मतत्त्व का कथन करने वाले विरले ही मिलते हैं। आत्मतत्त्व को समझने की शक्ति जिसमे न हो वे आत्मज्ञानी होने का ढिढोरा पिटें तो इससे आत्मा की वास्तविक उन्नति नही होती।

मोह के अध्यवसायो के प्रकट होते ही उन्हे दूर करने के लिए आत्मज्ञानी प्रयत्न करते हैं, आत्मतत्त्वज्ञानी मोह को मोह रूप में जानते हैं और धर्म को धर्मरूप मे जानते हैं, वे सत्य को नही छोडते और असत्य का आडम्बर नही रखते। वे अपने मे जितना होता है उसमे अधिक नही बताते हैं। आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त हुए बिना जीव सम्यक्त्वी नहीं गिना जाता। आगमो के आधार को देखते हुए मालूम होता है कि ऐसा अपूर्व आत्म-तत्त्व समझे बिना वस्तुत सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती। इस काल मे आगमो को आगे रखकर जो आत्मतत्त्व जानने की इच्छा करते हैं, वे धन्यवाद के पात्र हैं। आत्मतत्त्व की जिज्ञासा जिनके हृदय मे उत्पन्न होती है वे पुरुष धन्यवाद के पात्र हैं। आत्मबल प्राप्त करना हो तो आत्मतत्त्व को पहि-चानना चाहिए। अनेक आलबनो से आत्मा की शुद्धि कर आत्मा की परमात्मदशा बनाये बिना ससार से पार पाना कठिन है, परस्पर उपकारो मे शिरोमणि ऐसा अध्यात्मज्ञान का उपदेश है। अध्यात्मतत्त्व के सन्मुख होकर आत्मतत्त्वरूप होना यही परम मगल है।

भावाध्यात्मज्ञान में विचरण करने वाले, जो कुछ वास्तव मे प्राप्त करना होता है वे प्राप्त कर सकते हैं। स्याद्वादभाव से वस्तुतत्त्व का बोध होने से वे अनेकांतवादियों के आचारों और विचारों में रहे सत्य तत्त्व और असत्य तत्त्व को देखने में समर्थ होते हैं। स्याद्वादभाव से आत्मा को समझने वाले अध्यात्मज्ञानी विकल्प-संकल्परूप संसार को भूल जाते हैं वे शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यतत्त्व के स्वाभाविक आनंदरस को ग्रहण करते हैं। उनके हृदयाकाश में द्वितीया के चंद्र की तरह सम्यक्-तत्व गुण का तेज प्रकाशित होता है, इससे वे अल्पकाल में मुक्ति के अधिकारी होते है. पौद्गलिक सृष्टि में विचरते मन को वे आत्मसृष्टि की अलौकिक लीला में लीन करते हैं और पौद्गलिक सृष्टि के पदार्थों के उस पार रहे सहजरूप का अनुभव करते हैं।

अध्यात्मज्ञानी की भावना

अध्यात्मज्ञानी विचार करता है कि अहो! निश्चयनय से मेरी आत्मा वस्तुतः परमात्मा है, सिद्ध है, बुद्ध है. निर्लेप है, अयोगी है, अलेशी है, अकषायी है, अचंचल है, निष्कंप है, अयोनि है, अज है, अखंड है. अनंत है, अपार है, अपरंपर है, अभोगी है, असंहायी है, अजन्म है, अमर है, प्रभु है, ईश है, जगन्नाथ है, जगदीश है, अशरण शरण है, परमेश है, ब्रह्म है, विष्णु है, शंकर है, अरिहंत है, शंभु है, सदाशिव है, अनंत शक्तिमान है, अनंत गुणपर्याय का भाजन है,अकर्त्ता हैं,अभोक्ता है, अशोकी है, निर्भय है, निर्मयी है,निर्लोभी है, विकल्पसंकल्प रहित है, अव्याबाध है, अविनाशी है, अरूपी है, अक्रिय है, अनंतज्ञानी है, अनंतदर्शनी है, अनंतवीर्यमय है, अनंत चारित्रमय है, अवेदी

अखेदी है, अस्पर्शी है, अवर्णी है, अगधी है, असस्थानी है, रूपातीत है, एक है, अनेक है, अस्तिनास्ति धर्ममय है, वक्तव्य है, अवक्तव्य है, अगुरु-लघु है, अनाश्रयी है, अशरीरी है, मन रहित है, वचन रहित है, सब का द्रष्टा है, सब का साक्षी है, अनन्य सुखमयी है, अनवी है, पूर्ण है, नित्य है, ध्रुव है, ज्योतिरूप है, असख्य प्रदेशी है, स्वस्वरूपरमणी है, स्वस्वरूप भोगी है, स्वस्वरूप का योगी है, अनतधर्म का दानी है, षड्गुण हानि-वृद्धि युक्त है, इस तरह अध्यात्मज्ञानी अपनी आत्मा की सत्ता को भाता, ध्याता और अनुभवता बाह्य शाता और अशाता के प्रसगो को समभाव से वेदता है और समभाव मे रहकर अनत कर्म की निर्जरा करता हुआ विचरण करता है। सिद्धातो मे भी जहा मुनियो के अधिकार आये हैं वहा अप्पाण भावेमाणे विहरइ। 'आत्मा को भाता हुआ विचरता है' इसतरह अनेक दृष्टात पढने मे आते हैं। अध्यात्मज्ञानी अपनी आत्मा मे रही परम सत्ता को निश्चयनय से ध्याता है उसका कारण यह है कि आत्मा मे रहा परमात्मा वस्तुत परमात्म सत्ता का ध्यान करने से प्रकट हो सकता है। अध्यात्मज्ञानी जैसे जैसे आत्मा का ध्यान करता है वैसे वैसे उसे आत्मा के असख्यात प्रदेश मे रही अनन्त ऋद्धि की प्रतीति होती है। अध्यात्म-ज्ञानादि गुणो मे रमणता करने से जो आनद मिलता है, वह आनद तीन लोक के रूपी पदार्थों को अनन्तर भोगने से भी नही मिलता, ऐसा दृढ निश्चय होने से परभावरमण मे अध्या-त्मज्ञानी की रुचि नही रहती। अध्यात्मज्ञानी के शरीर को देखने के बजाय उसकी आत्मा को देखने से उसकी महत्ता मालूम होती है। अध्यात्मज्ञानी चारो तरफ विषयो से घिरा होते हुए भी उसमे आत्मियता का निश्चय नही करता, इससे

पौद्गलिक सृष्टि के पदार्थों से वह बंधता नहीं। अध्यात्मज्ञानी अपनी आत्मा की अनंतशक्ति को जानता है इसलिए वह आलस्य आदि प्रमाद के वश में नही होता और अमुक आत्म-धर्म की प्राप्ति अगम्य है ऐसा वह नही मानता। अध्यात्म-ज्ञानी केवल वाहर से ही वस्तु का स्वरूप देख सकता है इतना ही नही परंतु वस्तु का अंतर स्वरूप भी देख सकता है जिससे वह अपने (आत्मा में) में रही अनन्त लव्धि को देखकर उसका निश्चय करता है और वह दीनभाव का तो स्वप्न में आश्रय नहीं लेता; उसकी अंतर की दशा होने से वह पर के आधार से परतंत्र होना स्वीकार नही करता। वह अपने गुणों का ही आश्रय लेकर स्वाश्रयी होकर, दूसरों को भी स्वाश्रयी वनाने का प्रयत्न करता है। अध्यात्मज्ञानी सात प्रकार के भय में भी निर्भय रहने के लिये मन का गुरु वनकर मन को उपदेश देकर, देश की तरफ गमन कर निर्भय परिणाम को प्राप्त करता है।

अभिनव विचार

अध्यात्मज्ञानी मन पर लगे आर्तध्यान और रौद्रध्यान के अनंतगुण भार को छोड़ देता है और हलका होकर शांति प्राप्त करता है। ताजी हवा से मस्तिष्क जैसे प्रफुल्लित होता है वैसे अध्यात्मज्ञानी अभिनव अनुभवज्ञान के विचारों से ताजा होता है और आनंद की लहर में आंतरजीवन को वहाता है। अध्यात्मज्ञानी प्रतिष्ठित अभिनवज्ञान के ताजे विचारों को ध्यान धरकर प्राप्त करता है। हाथी के पीछे कुत्ते जैसे भोंकते रहते है फिर भी हाथी उधर ध्यान नहीं देता, उसी तरह अध्यात्मज्ञानी भी दुनिया के मनुष्यों के भिन्न भिन्न आक्षेप-तिरस्कार-उपाधि की तरफ ध्यान नहीं देता। यदि कभी वह आर्तध्यानादि के झपाटे में आ भी जाता है तब भी

वह ज्ञान बल के प्रताप से बाद मे अपने स्वभाव मे आ जाता है।

अध्यात्मज्ञानी सदा जगत् की शाति की इच्छा करते है। किसी भी अपराधी जीव को दु ख देने की उनमे इच्छा नही होती। अध्यात्मज्ञानी किसी को मानसिक दु ख हो इस प्रकार नही बोलते, वैसे लिखते भी नही। अध्यात्मज्ञानी मन, वाणी और काया की शक्तियो का अधिक से अधिक सदुपयोग करते है, जिससे वे जगत् मे महात्मा माने जाते है। अध्यात्मज्ञानी श्री वीतरागदेव के वचनो को अमृत समान मानते है और उसके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते है। अध्यात्मज्ञानी का धर्मप्रेम सर्वोत्तम होता है और वे कषाय के तीव्र परिणाम को, भावना द्वारा मद कर देते है। बाह्य दृष्टि वाले मनुष्यो का व्यापार बाह्य होता है, परन्तु अध्यात्मज्ञानियो का व्यापार तो अतर मे सद्गुणो को प्राप्त करने के लिए क्षण क्षण चलता रहता है। बाह्यदृष्टिधारक क्रोधादि के परिणाम की तोप अपनी तरफ खडी कर छोडता है और अतरदृष्टिधारक अध्यात्मज्ञानी तो समभावरूप तोप से मोह शत्रु का नाश करते हैं। बाह्यदृष्टिधारक चाहे जिस तरह स्वार्थादि से प्रेरित होकर अनीति की तरफ वृत्ति करते ह और अध्यात्मी विवेक चक्षु से मोक्ष मार्ग की तरफ प्रवृत्ति करते है। अध्यात्मज्ञानी सोचते हैं कि 'अपनी शुद्ध भावना से अपनी आत्मा का पोषण करना"। इस ससार मे कोई वस्तु अपनी नही, सध्याराग की तरह पदार्थो की अनित्यता है। जिन जड पदार्थों के लिए वह मर मिटता है वे कभी परभव मे साथ नही आते। जड पदार्थों को अपना मानने की ममत्व की कल्पना वास्तव मे अनेक प्रकार के दु ख देती है। अनेक

प्रकार के व्यापारों में मनुष्य रात-दिन मर मिटता है, परन्तु उन व्यापारों से मनुष्य की आत्मा को सच्ची शांति—सच्चा सुख नहीं मिलता, फिर किसलिए बाह्य पदार्थों के व्यापार में आयुष्य को समाप्त करना चाहिए? जिन जिन वस्तुओं के लिए प्राण दिया जाता है वे वस्तुएं प्राण देने वाले के आत्मा की कीमत करने में शक्तिमान नही है; ऐसा प्रत्यक्ष जानते हुए कौन मनुष्य संसार की वस्तुओं में ममत्व की कल्पना को छोड़ शांति की खोज नहीं करेगा? जगत् के जड़ पदार्थों में ममत्व की कल्पना से उन पदार्थों के सेवक बनकर, श्रेष्ठता से भ्रष्ट होकर उनकी रक्षा करनी पड़ती है। जिन पदार्थों के विना काम नहीं चलता और जिन पदार्थों को साथ रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है, वे पदार्थ अंतरदृष्टि से देखें तो अपने पास हैं। जो पदार्थ आवश्यकता से अधिक हों और जिनको अपने पास रखने से दूसरों को असुविधा हो उन पदार्थों को अपने पास रखकर दूसरों को न देते हों, वे अध्यात्मदृष्टि से सम्यक्त्व का मूल दया को समझने में समर्थ नही होते।

इस तरह अध्यात्मज्ञानी विचार कर परिग्रहादि ममत्व से नहीं बंधते। वे शरीर मे तथा संसार में विद्यमान समस्त पदार्थों से अपने को अलग मानते हैं, और जो जड़ पदार्थों में बंध गये हैं उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करते है। दुनिया में मूर्ख मनुष्य जिन पदार्थों के लिए अश्रु बहाता है उन पदार्थों के प्रति अध्यात्मज्ञानी मध्यस्थ दृष्टि से देखते रहते हैं। मूढ़ मनुष्यों के रात्रि के समय अध्यात्मज्ञानी जागृत रहते हैं और उन्हें जगाने का प्रयत्न करते है। जबकि अज्ञानी मनुष्य जड़ पदार्थों से राग करते है, और जड़ पदार्थों की प्राप्ति के लिए मर मिटते है।

सब आत्मज्ञानी जीवो पर शुद्ध प्रेम रखते है, और उनकी आत्मा का ज्ञान प्रकाश विकसित करने का उपदेश देते है। अध्यात्मज्ञानी सद्गुणो का व्यापार करने का मुख्य लक्ष्य रखते है, और इसी के लिए उनका जीवन है। अध्यात्मज्ञानी उपाधि का त्याग कर यदा-कदा जगत् मे विचरते हैं—वे जो करते हैं, जो देखते ह, जो सुनते ह, जो बोलते हैं, और जो पढते हे उनमे अलौकिकता का अनुभव करते है। मूढ मनुष्यो की दृष्टि की अपेक्षा उनकी दृष्टि अनतगुणी शुद्ध होने से उनकी आखे और उनका हृदय मे देखना और सोचना उच्च प्रकार का होता है। वे धम के व्यवहार मार्ग का लोप नही करते और धर्म की क्रियाओ मे वास्तविक परमार्थता का अनुभव करते है। अध्यात्मज्ञानी पिजरे मे बद पक्षी की तरह ससार से मुक्त होने की इच्छा करते है, सासारिक पदार्थों मे सुख की बुद्धि नही होने से वे आत्म सुख की तरफ वृत्ति वाले है, और आत्मसुख प्राप्त करने के लिए देव, गुरु और धर्म की आराधना करते हैं। राग द्वेष का त्याग कर और सासारिक आश्रव मार्गो का त्याग कर वे आत्मा को भाते हुए विचरते है ऐसे महामुनियो को सच्चा अध्यात्मज्ञान प्रकट होता हे। चौथे और पाँचवे गुणस्थानक वाले जीवो को सम्यग्ज्ञान रूप अध्यात्मज्ञान उत्पन्न होता है, और इससे ये ससाररूप जेल से छूटने की बारबार तीव्र इच्छा करते ह, चौथे और पाचवें गुणस्थानक वाले जीवो को साधु होने की तीव्र भावना होती है। और इससे वे चौथे और पाँचवे गुणस्थानक पर रह सकते हैं। जिन्हे साधु दीक्षा अगीकार करने की भावना नही है वे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक मे वा देशविरति गुणस्थानक मे नही रह सकते। साधु होने का जिनके मन मे परिणाम न हो वे

श्रावकपन से भृष्ट होते हैं, ऊपर का उच्च गुणस्थानक धारण करने की इच्छा विना चौथे अथवा पाँचवें गुणस्थानक में नहीं रहा जा सकता। **आत्मा को सुख का स्थान समझे बाद कौन बंधन से मुक्त होने की इच्छा नहीं करता ?**

अध्यात्मज्ञान से जड़वाद का नाश

जब जगत् में जड़वादियों की बड़ी संख्या अस्तित्व में आ जाती है तब उसके सामने आत्मवादी खड़े रहकर अनेक दलीलें देकर जड़वाद का नाश करने में अद्भुत पराक्रम दर्शाने वाले अध्यात्मविद्या से, मनुष्यों के हृदय में रहा नास्तिक भाव दूर हो जाता है, **जैन जिसे अध्यात्मज्ञान कहते हैं उसे वेदांती ब्रह्म विद्या आत्म विद्या, आदि नामों से पहिचानते हैं।** वास्तव में देखा जाय तो जैन शास्त्रों से अध्यात्म विद्या की सिद्धि होती है. जड़वादियों के सामने आत्म विद्या टिक सकती है। आत्म-ज्ञानरूप क्षेत्र में धर्मानुष्ठान बढ़ जाते है, हाल में यूरोप तथा एशिया आदि खण्ड में जड़वादियों की संख्या बढ़ती जाती है। और जिससे वे ईश्वर, पुण्य, पाप, पुनर्जन्म, आत्मा आदि को स्वीकार नही करते ऐसे लोगों की बढ़ती संख्या को देखकर जिनके मन में कुछ खटकता हो ऐसे मनुष्यों को अध्यात्म विद्या का प्रचार करने के लिए तैयार होना चाहिए। अंधकार का नाश वास्तव में प्रकाश विना नही होता, वैसे जड़वादियों के नास्तिक विचारों का नाश वस्तुतः अध्यात्मज्ञान विना नहीं होता। जड़वादियों की आत्मा मे चैतन्यरस डालने वाली अध्यात्मविद्या है, जड़वादियों के लिए सत्य प्रकट करने वाली वास्तव में आत्म विद्या है। चार्वाकों की दलीलों को तोड़कर अध्यात्मविद्या चैतन्य प्रदेश में ले जाती है। **अध्यात्मज्ञान ही**

विज्ञानवादियो की अंतिम से अंतिम शोध होनी है। केवलज्ञान से श्री महावीर प्रभु ने आत्मा को देखा है, जाना है—ऐसी आत्मा की शोध करने वाले अनेक योगी हो गये है और उन्होंने आत्मा का स्याद्वाद भाव से अस्तित्व स्वीकार किया है। अध्यात्मविद्या से चैतन्यवाद-आत्मवाद स्वीकार किया जा सकता है, अध्यात्मविद्या, यह मूर्खो की दृष्टि मे बेकार और ज्ञानियो की दृष्टि मे परम रत्न है।

आत्मविद्या का प्रकार

अध्यात्मविद्या का बगीचा आर्यावर्त मे विकसित हुआ है और उसकी महक आसपास के देशो मे जाने लगी है। भारत-देश के निवासी यूरोप आदि देशो को अध्यात्मज्ञान देकर उनके गुरु बन सकते है। आर्यावर्त की भूमि मे अध्यात्मविद्या के विचार प्रकट होते हैं और उनका पोषण भी इस देश मे होता है। भारतवासियो के भाग्य मे आत्मविद्या का गुरु बनना लिखा है। भारतवासी पाश्चात्य देशो के ससर्ग से नास्तिकता की ओर झुकेगे परन्तु अत मे तो चैतन्य प्रदेश मे आना ही पडेगा। अध्यात्मज्ञान के उदयकाल मे आर्यावर्त स्वतत्र था और आर्य लोग आर्यत्व गुणो से अलकृत थे, इसलिए वे परस्पर एक दूसरे की आत्मा को सहायता दे सकते थे और वे देह की अपेक्षा आत्मा की परमात्मा के समान कीमत आँक सकते थे और वे उदय की शृखला से बँधे हुए थे।

आर्यावर्त का अध्यात्म विद्या से उदय

अध्यात्मविद्या का प्रकाश मद होने से आर्यावर्त मे मोह का जोर बढने लगा, इससे शरीर-ममत्व आदि, माया के प्रदेशो मे अहभावी होकर दुर्गुणो के आधीन हो गये और परतत्रता की

बेड़ी में जकड़ गये । स्वतंत्रता के लिए भारतवासी चिल्लाते हैं, परन्तु वे आत्मरूप राजा की पूजा छोड़कर शरीररूपी महल की पूजा में अनेक पापों से मग्न हैं वहां तक, वे वास्तविक उन्नति के द्वार पर पैर नहीं रख सकते । जड़वाद के आश्रय से जो लोग अपनी उन्नति करना चाहते है वे क्षणिक उन्नति के उपासक हैं और सच्ची उन्नति को धक्का मारते है । जड़वाद के विचारों में सच्ची उन्नति का स्वप्न है । जब कि जड़वादी अनीति के मार्ग पर वा अधर्म के मार्ग पर चलकर, रजोगुण और तमोगुण द्वारा वाह्य साधनों की उन्नति करने में समर्थ बनें ! परन्तु जड़वाद के विचारों से की गई उन्नति को टिका रखने में वे समर्थ नहीं हो सकते । वे जगत् के स्वार्थ का त्याग कर वास्तविक रूप में आत्मभोग नहीं दे सकते । जड़वादी शरीर के सुख के लिए जो कार्य करना होता है वह करते हैं और यही उनका मूल मंत्र है । वे शरीर को महत्वपूर्ण गिनकर सुख का विंदु वाह्य साधनों में ही मानते है । ऐसी उनकी विचार-श्रेणी से वे अपनी वास्तविक दृष्टि को भूल जाते हैं और स्वार्थ को आगे कर पुण्य पाप गिने विना सब काम करते है । आत्मवादी ईश्वर, पुनर्जन्म कर्म, आत्मा आदि तत्वों को स्वीकार कर सकते है, और शरीर को एक घर जैसा मानते हैं और उसमें रहे आत्मा को महान् प्रकाशक मानते हैं । आत्मवादी ईश्वरीयोपदेश के अनुसार चलकर अपनी आत्मा की उन्नति करते है और सम्पूर्ण जगत् की उन्नति करने में समर्थ होते है । आत्मवादी अर्थात् चैतन्यवादी दूसरों की आत्मा का मूल्य समझकर उनकी सेवा में अपनी शक्ति का उपयोग करते है । आत्मवादी सद्‌विचार रूप हवाई जहाज में वैठकर सम्पूर्ण जगत् की तरफ दृष्टि करने में समर्थ होते हैं और अपनी आत्मा

की उच्चता होने पर भी अन्य आत्माओं को सहायता दे सकते है। वे पुनर्जन्मवाद को श्रद्धागम्य मानते हे इसलिए वे अपना सर्वस्व अर्पण करने मे जरा भी नही हिचकते, वे वास्तविक उन्नति के इच्छुक होने से बाह्य साधनो की प्राप्ति के लिए द्वेष, क्लेश, स्वार्थ, मारामारी आदि कर जगत् को अशात करनें का प्रयत्न नही करते। भारतवर्ष के चैतन्यवाद का सूर्य, अपने सद्‌विचार रूपी किरणो का सम्पूर्ण जगत् पर प्रकाश करने मे समर्थ होता है। आज चैतन्यवाद का सूर्य मद प्रकाश करता है, परन्तु श्रद्धागम्य आत्मवाद हो ऐसे उपाय किये जावे तो, आय पूर्व की सच्ची उन्नति कर सकते है। आर्यावर्त का उदय वास्तव मे आत्मविद्या मे समाया हुआ है। आत्मविद्याधारक आर्यो मे, सब प्रकार के कार्य करने की शक्तिया प्रकट हो सकती ह। श्री महावीर प्रभु ने आत्मा को आत्मरूप मे बताकर आर्यावर्त पर जो उपकार किया है उसका अदाज नही लगाया जा सकता।

आर्यो की अवनति का कारण

आर्यदेश के मनुष्यो मे जैसे जैसे अज्ञानरूप अधकार फैलने लगा वैसे वैसे वे सच्चे सुख के प्रकाश से दूर होने लगे और इससे उनमे कई मत-मतातर उत्पन्न हुए और मनुष्य, अपनी आत्मा का स्वरूप भूलकर माया के प्रदेश मे सुख की बुद्धि रखकर व्यसन के पजे मे फस गया। अज्ञान मोह से भीतर ही भीतर जादवास्थली रचकर अपने ही हाथ से अपनी अवनति का गड्ढा खोदने लगे, जिससे वे भविष्य की प्रजा मे अस्त का चक्र देने लगे। और इससे परपरा तम प्रदेश मे बढने लगी। आत्मा की महत्ता भूल जाने से, मोह का जोर बढने से, मनुष्य जीवन के सच्चे उद्देश्य से मनुष्य दूर जाने

लगे, इसलिए वे भविष्य की प्रजा को उत्तम संस्कार देने में समर्थ नहीं हुए, इन कारणों से आर्यों का आत्मबल कम होने लगा। धर्म की क्रिया के सामान्य भेदों को बड़ा रूप देकर आर्य परस्पर द्वेष, ईर्षा और क्लेश कर शरीर में रही आत्मा को धिक्कारने लगे, और इसमें धर्मक्रिया के मतभेद से असहिष्णुता बढ़ने लगी ऐसी स्थिति होने पर भी आत्मोन्नति के मूल प्रदेश में आने के लिए जितना चाहिए उतना प्रयत्न नहीं किया गया और जो कुछ भी प्रयत्न किया गया वह भी परिपूर्ण और विघ्नरहित नहीं हुआ, जिससे भारतवासी आत्मोन्नति के स्थान से दूर जाने लगे। **वास्तव में चैतन्यवादी अपने सद्विचार और सदाचार के अनुसार हमेशा जागृत रहे होते और अपना कर्तव्य जगत् के प्रति अच्छी तरह व्यवस्थित रूप से पूरा किया होता तो आत्मोन्नति के मार्ग से दूर नहीं हो सकते थे।** श्री वीरप्रभु ने केवलज्ञान द्वारा स्याद्वादशैली से आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था, उसका प्रचार सारे जगत् में होता तो वर्तमान दुनिया स्वर्ग समान होती। श्री वीरप्रभु ने चैतन्यवाद का प्रचार करने का जो प्रयत्न किया है उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। श्री महावीर प्रभु ने चैतन्यवाद का प्रचार कर भारतवर्ष में जो अपूर्व प्रकाश किया है उसकी झांकी अभी भी दिखाई देती है।

मुनियों के द्वारा अध्यात्मज्ञान का प्रचार

अध्यात्मविद्या के शास्त्र अभी भी मौजूद हैं। अध्यात्मविद्या के विचार देशकाल के अनुसार अपने आचरण में उतारे जाँय ऐसी व्यवस्था बनाकर जीवन की उच्च दशा करने की जरूरत है। **श्री वीरप्रभु द्वारा उपदेशित आगमों में अध्यात्मविद्या का पूर्ण खजाना है।** अध्यात्मविद्या के पूर्ण खजाने-

रूप आगमो का उपदेश देनेवाले अपने परम पूज्य मुनिवर है। अपने मुनियो ने अध्यात्मविद्या के खजाने को परपरा से आज-तक वहन किया है। अपने मुनिवरो के द्वारा अध्यात्मविद्या का प्रचार हुआ है और भविष्य मे भी होने वाला है। अध्यात्म-विद्या का प्रचार करने वाले मुनियो को सब प्रकार का सहयोग देने की आवश्यकता है।

आत्मश्रद्धा का माहात्म्य

यदि अपन चैतन्यवाद मे गहरे उतरे तो शरीर के भोग और उपभोग के साधनो की तृष्णा का त्याग कर दूसरो की भलाई मे भाग ले सकते है। आत्मवाद की श्रद्धा होनी चाहिए। आत्मवाद और कर्मवाद की सच्ची श्रद्धा होने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। आत्मवाद की सच्ची श्रद्धा के सस्कार देने वाले गुरुओ की शरण मे रहकर आत्मविश्वास विकसित करना चाहिए, आत्मविश्वास और आत्मा की कीमत समझे बिना प्रमाणिकता और सच्चा वैराग्य प्रकट नही हो सकता। आत्मविद्या अपूर्व सुख की चाबी है ऐसा दृढ निश्चय करने वाली प्रजा मे सच्चे सन्यास के गुण प्रकट हो सकते हैं। अपना विश्वास अपने को नकारे और अपने से जो कुछ करने मे आता हो उसमे अपनी श्रद्धा न हो वहा तक उस कार्य मे वास्तविक सफलता नहीं मिल सकती। आत्मविद्या कार्य विजय की चाबी बताती है और कार्य करने मे सच्ची श्रद्धा पैदा करती है। कार्य करने मे सशयी आत्मा नही ठहर सकती और वह दूसरो के लिए दृष्टातरूप नहीं हो सकती। सच्ची आत्मश्रद्धा ही परम पुरुषार्थ का बीज है। सच्ची आत्मश्रद्धा ही मनोवृत्ति की एकाग्रता का बीज है। सच्ची आत्मश्रद्धा ही

यम और नियम का आधार है। सच्ची आत्मश्रद्धा ही धर्मानुष्ठानोरूप वनस्पतियों का रसभून है। विना श्रद्धा वाला मनुष्य संशययुक्त विचारों से नष्ट हो जाता है और अनेक मनुष्यों को नष्ट करता है। आत्मा को अनुभवगम्य किये विना आनंद की छाया सब प्रसंगों में नहीं दीख सकती। सच्ची आत्मश्रद्धा रेडियम धातु के समान है। आत्मश्रद्धा विना सेवा और भक्ति मे सच्चा आत्मरस पैदा नही हो सकता और इससे मनुष्य सेवा-भक्ति के अनुष्ठानों में शुष्कता की वृद्धि करता है। आत्मज्ञान जितने अंश में वढ़ता जाता है उतने अंश में आत्मश्रद्धा वढ़ती जाती है। और वह अन्य गुणों को धारण करने में पृथ्वी की उपमा को धारण कर सकता है। आत्मज्ञान से आत्मश्रद्धा में परिणमित नहीं हुए मनुष्य अपना विश्वास दूसरों पर विठाने में समर्थ नहीं हो सकते। प्रमाणिकता का सच्चा कारण आत्मश्रद्धा है। जो आत्मा को आत्मभाव से जानकर, आत्मा की श्रद्धा के रस द्वारा मन को मजवूत करते हैं उनकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। शरीर के वजाय शरीर में रही आत्मा की श्रद्धा को विशेष मान देने की आवश्यकता है। शरीर में रहे आत्मा को पहिचानो, उस पर श्रद्धा करो, और जो जो काम करो उसमें आत्म श्रद्धा को सामने रखो, आत्मश्रद्धा से हाथ में लिए कामों में दैविक सहायता मिल सकती है यह निश्चित है। मनुष्य, अपनी आत्मा को गरीव-कंगाल समझकर अपने हाथ से अपना तिरस्कार कर आगे नहीं वढ़ सकता। अपनी आत्मा की सिद्ध समान सत्ता है; ऐसी श्रद्धा हुए विना आत्मा की शक्तियों को व्यक्त करने के लिए उद्यम नही किया जा सकता। और उद्यम करने पर भी उनमें होने वाले विघ्नों के सामने टिका भी नही जा सकता। आत्मश्रद्धा

विनावाला मनुष्य डराने से विघ्नो से पीछे हट जाता है, वह पक्के निश्चय पर मेरू पर्वत की तरह अडिग नही रह सकता। वह क्रिया या धर्मानुष्ठानो मे दुःख आने पर कार्यक्षेत्र से भाग जाता है। आत्मवल को एकत्र कर उसे किसी भी कार्य मे काम लेना हो तो वह विना आत्मश्रद्धा वाला बने नही हो सकता। आत्मश्रद्धा ही विजय की वरमाला है। आत्मश्रद्धा वाले मनुष्य आनन्दोत्साह से धर्म कार्य करते है। और वे दुःख मे भी कर्म-वाद के सिद्धान्तो के जानकार होने से घबराते नही, और मस्तिष्क का सतुलन कायम रखकर आत्मप्रदेशो मे रहे धर्मो को विकसित करते है। आत्मवादी आत्मश्रद्धा से परिपक्व होते हैं जिससे वे कर्म के अनुसार सुख दुःख के विपाक को भोगते हुए समत्व को नही छोडते। आत्मवादी पुनर्जन्म की श्रद्धावाले होने से सत्कार्य करने में निष्काम बुद्धि से परिपूर्ण आत्मभोग दे सकते है। जो भी शुभ कर्म किए जाते हैं उनका फल अवश्य परभव मे मिलना है, ऐसा आत्मवादियो को विश्वास होने से शुभकार्य करने मे कभी पीछे नही हटते। आत्मवादियो को पाताल कुए की तरह अपनी आत्मा से सच्ची शक्ति से सहायता मिल सकती है। जडवादी-नास्तिक पुनर्जन्म को नही मानते हैं इसलिए वे इस भव मे जो कुछ प्रत्यक्ष फल दिखाई देता है वही मानते है और परोक्ष फल के लिए अविश्वास की दृष्टि रखते है। इसलिए वे आतरिक वल प्राप्त नही कर सकते। आत्मवादी ऐसा मात्र नाम धारण करने वाले अपने कार्य मे जडवादियो की अपेक्षा पीछे हटते है तो जानना कि, वे आत्मतत्त्व के सच्चे स्वरूप को नही पहिचान सके है।

जड़वादियों और चैतन्यवादियों का मुकाबला

जड़वादियों की अपेक्षा सच्चे चैतन्यवादी सब बातों में विजय प्राप्त कर सकते है और इससे जड़वादियों को आश्चर्य होता है। जड़वादी वास्तव में सच्चे अध्यात्मवादियों के अधीन होते हैं और वे अध्यात्मवादियों के शिष्य बनते हैं। आत्मश्रद्धा से चुस्त हुए आत्मवादी सम्पूर्ण जगत् की दृष्टि में आते हैं। अध्यात्मवादी शोक वा उदासीनता से बैठे नही रहते। अध्यात्मवादी डरपोक मीयां की तरह धर्म मार्ग से पीछे नहीं हटते : अध्यात्मवादी बाह्य और आंतरिक शक्तियों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार विकसित करते हैं।

अपने आर्य क्षेत्र में अध्यात्मविद्या ने सदा के लिए निवास किया है। धर्म के स्थान वास्तव में आर्यावर्त में परिपक्व होते हैं। आर्य क्षेत्र की भूमि के वातावरण में कोई विचक्षण तत्त्व रहा है कि, जो आर्यावर्त के निवासियों को आत्मविद्या के प्रदेश की तरफ आकर्पित करता है और महात्माओं को अपने यहां पैदा करता है। आर्यावर्त के विद्वानों का अध्यात्म-विद्या की तरफ लक्ष खेंचता है।

आत्मज्ञान से आर्यभूमि की पूज्यता

आर्यावर्त में सच्ची अध्यात्मविद्या है। आर्यदेश के मनुष्यों को अध्यात्मविद्या की प्राप्ति के लिए पाश्चात्य लोगों का शिष्य बनने की जरूरत नही है। आर्यदेश में जन्मे मनुष्य अध्यात्मविद्या की सच्ची प्राप्ति कर सकता है। पाश्चात्य लोग आर्य देश की आध्यात्मविद्या को ग्रहण करें तो पृथ्वी के टुकड़े के लिए लाखों मनुष्यों के प्राणों का नाश हो ऐसी

मोहदशा के आधीन नही होंगे। देश, काल और क्षेत्र, ये तीन अध्यात्मविद्या की प्राप्ति के लिए उपयोगी हैं। अध्यात्मविद्या यह अपना सच्चा जीवन है और ऐसी जिन्दगी जीना ही अपना अमरत्व समझना।

सारी दुनिया मे अध्यात्मज्ञान से समानभाव का प्रचार किया जा सकता है। हरएक धर्म वाले भ्रातृभाव-मैत्री-सलाह-सप और एकता के लिए भाषण देते हैं परन्तु, अध्यात्मज्ञान के गहरे प्रदेश मे प्रवेश किये बिना समानभाव की दृष्टि मे जगत् को नही देख सकते। अध्यात्मज्ञान मे गहरे उतरने से समानभाव मे आत्मा विकसित होती है और इससे वे स्वार्थ के लिए किसी जीव को दुखी नही करते। अध्यात्मज्ञान कहता है कि, समानभाव के लिए प्रथम मुझे याद करो। मैं तुमको समभाव के किनारे पर ले जाऊँगा, वहाँ तुमको सारी दुनिया समान लगेगी। जिस अध्यात्मज्ञान से समानभाव विकसित होता है, उस समानभाव की दिशा मे गमन कर तत्सम्बन्धी विचार करना चाहिए।

समानभाव

समानभाव यह जीवन का बड़ा रहस्य है। वह दुःख को दूर करता है और सुख को दृढ करता है। वह विरोध को दूर करता है और विरुद्धता का नाश करता है—कठिन से कठिन हृदय को पिघलाता है और धर्म के सुन्दर अंश का पोषण करता है। आर्य-जैन धर्म के बड़े सिद्धांतो की जड़ समानभाव है। "एक दूसरे को समान समझो, तुम्हारी आत्मा दूसरो की आत्मा के समान है ऐसा भाव रखकर दुनिया मे रहो, फिर तुम्हारा जीवन वास्तव मे विद्युत की तरह उन्नत होगा।"

अपने तीर्थंकरों और महात्माओं ने समानभाव की तरफ उन्नति का निश्चय वतलाया है। **एक विद्वान ने किसी महात्मा को पूछा कि, अपनी उन्नति किसमें है?** महात्मा ने कहा कि "समान भाव में"। समानभाव से मनुष्य सारी दुनिया में हरएक के हृदय पर जवरदस्त श्रद्धा विठा सकता है। सव प्रकार की वासना के संकुचित प्रदेश से छूटना हो तो समानभाव से हृदय भरो। यदि तुमको भेदभाव के क्षुद्र विचारों को नाश करना हो तो समानभाव की उपासना करो! शुद्ध प्रेम सिवाय समानभाव के नहीं आ सकता। कॅनन फॉर कहते हैं कि—"**हम बहुत दफा उद्योग के वजाय समानभाव से अधिक हित करते हैं। मनुष्य पदवी, अधिकार, द्रव्य और शरीरसुख प्राप्त करे, परन्तु संतोष से सुख में जीवित रहे।**" एक वात ऐसी है जिसके विना जिंदगी भार रूप हो जाती है, और वह है समानभाव। समान-भाव दूसरे के हृदय में प्रीति और आज्ञाधीनता की प्रेरणा देता है।

समानभाव अधिक मनुष्यों पर दर्शा कर अधिक विस्तार होने दें तो वह 'सार्वजनिक दया भाव' ऐसा बड़ा रूप धारण करता है। समानभाव बताने के लिए अधिक धन वा अधिक बुद्धिवल की कोई जरूरत नहीं है। नोकस नामक एक यूरोपियन विद्वान ने कहा है कि, "समानभाव से एक दूसरे की भलाई के लिए अधिक लालसा होती है।" एक हृदय की दूसरे के हृदय पर असर हुए विना नहीं रहती। समानभाव से सारी दुनिया मित्र हो जाती है। **जब मनुष्य दूसरे के जीवन को अपना जीवन समझता है तब दैविक असर होती है और सबको अपने प्रति आकर्षित करता है।** उत्तम और उदार प्रकृति के पुरुषों में सब से अधिक समानभाव होता है। विल्बर फोर्स

समानभाव के बल के लिए अधिक प्रसिद्ध थे। सोक्रेटीस ने कहा कि "जैसे मनुष्य की अपेक्षा स्वार्थ के लिए कम होती जाती है वैसे वह परमात्मा के निकट पहुँचता जाता है।" समानभाव यह परमात्मा के पास पहुँचने का सर्टिफिकेट है। कई बार ऐसा होता है कि पाठकों को समानभाव पर पुस्तक पढने पर असर होती है परन्तु वह उनके आचरण मे नही दिखाई देता। दुनिया मे गच्छो-गच्छो मे भेद, एक दूसरे के बीच भेद। सेठ, नौकर को हलका समझता है, राजा अपनी प्रजा को हीन समझता है, अधिकारी अपने नौकरो को हलका मानता है और प्रभु की प्रार्थना कर प्रभु की कृपा चाहने लगे। यह कितना अधिक अज्ञानभाव? छोटे बडे की कल्पना से मनुष्य अपने अदर रही आत्मा को पहिचान नही सकता। जिन मनुष्यो मे आत्मारूपी परमात्मा विराजमान है उन मनुष्यो की तरफ, द्वेप की, ईर्षा की निगाह से देखने वाले मनुष्य की आत्मा वास्तव मे मोहरूप दृष्टि से देखने वाली है। आचार मे समानभाव जिसने धारण किया है ऐसे समानभावी की जिंदगी अनेक मनुष्यो के कल्याण के लिए होती है। इस आर्यावर्त मे अब शिक्षा बढने लगी है, व्यापार बढने लगा है, धर्म के ग्रंथ भी अलसियो की तरह प्रकट होने लगे है, परन्तु समानभाव तो अदृश्य होता जा रहा है। शिक्षा प्राप्त मनुष्य बहुत निकल रहे हैं, परन्तु सब जीवों को समान समझकर उनके प्रति सेवा-धर्म का वर्ताव करने वाले विरले पुरुष ही देखने मे आते है। भाषणो को भीड मे तालियो की गडगडाहट बढने लगी है, किन्तु समानभाव से अपने मनुष्य बन्धुओं के प्रति व्यवहार करने वाले अल्प मनुष्य हो होते हैं। मनुष्य परमात्मा की तरह होना चाहते है, परन्तु परमात्मा की तरह समानभाव धारण

किए विना परमात्मा की गिनती में कैसे आ सकते है ? वाह्यसत्ता-लक्ष्मी और शरीर तथा जातिभेद से हरकए की आत्मा को विपमभाव से देखने वाले शरीर में रही आत्मा की उत्तमता को नही समझ सकते । समानभाव यह सब प्रकार की उच्चता की सीढो है । समानभाव से ईर्पा आदि दोपो का तुरंत नाश होता है । श्रीमद् कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य में जेनधर्म में पड़े गच्छों के भेद के प्रति समानभाव होने से उन्होंने गच्छभेद के क्लेश में अपनी लेखनी का उपयोग नहीं किया । श्री हीरविजयसूरि में भी सर्वगच्छीय साधुओं के प्रति समानभाव वढता जाता था इसलिए वे अन्य गच्छ वालों के साथ चर्चा कर क्लेश उत्पन्न नहीं करने का ठहराव करने में समर्थ हुए । अकवर वादशाह भी समानभाव के कारण हिंदुओं और मुसलमानों का प्रेम जीत सके और इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा गया । हर स्थिति मे मनुष्य समानभाव से आत्मिक सुख की प्राप्ति करता है । समानभाव के मार्ग पर जाने से आत्मसुख का प्रकाश होता है। समानभाव के मूल में सारी दुनिया के सत्यधर्म का प्रकाश रहा है । जो मनुष्य समानभाव को व्यवहार मे लाता है, वह महात्मा होता है । समानभाव के वहुत लेख देखने मे आते है, परन्तु उसे धारण करनेवाले मनुष्य वहुत कम देखने मे आते हैं । अपना मान कायम रखने में जहां वड़प्पन हो और अन्य मनुष्य हलके दीखते हों वहाँ समानभाव का तिरस्कार है, और यह तिरस्कार का घोप सारी दुनिया पर वुरी असर करता है ।

समानभाव से दया-शुद्ध प्रेम आदि गुण उच्चभाव में विकसित होते हैं और क्षुद्र जंतु भी अपने साथ हिलमिल कर

मेलते हैं। समानभाव से पशु और पक्षी के प्रति शुद्ध प्रेम-भावना जाग्रत होती है। इस सम्बन्ध मे निम्न दृष्टात मनन करने लायक है।

मेस्साच्युसेट्स मे कॉन्कोड का थोर, प्राणियो के प्रति समानभाव रखकर उनके साथ प्रीति रखने मे प्राचीन साधुओ जैसा था। ई स १८४५ मे वॉल्डन सरोवर के आगे जगल मे गया, उसने जगल मे घर बनाना शुरू किया, इससे रैकून और खीसकोली को आश्चर्य हुआ, परन्तु प्राणियो को तुरन्त मालूम हो गया कि उसका इरादा उन्हे किसी प्रकार की तकलीफ देने का नही है। वह टूटे वृक्ष पर या सडक के किनारे सोता और बिना हिलेडुले स्थिर रहता। खीसकोली और चडचक्र उसके अधिक अधिक पास आते और उसे छेडते भी, जगल मे ऐसी खबर फैली कि अपने यहा एक मनुष्य आया है और वह अपने को मारने वाला नही है इससे उस मनुष्य से जानवरो और पक्षियो मे सुन्दर समानभाव उत्पन्न हुआ। वह जब उनको बुलाता तो वे उसके पास आते। सर्प भी उसके पैरो मे लिपट जाते। वृक्ष से वह खीसकोली उठाता तो वह छोटासा प्राणी उसे छोडने को तैयार नही होती और थोरा के बदन मे छिप जाती। नदी की मछलियाँ भी उसे पहिचानती। अपने को यह किसी प्रकार का कष्ट नही देगा ऐसे पूर्ण विश्वास से वे पानी मे से देखती। उसने अपना घर एक जगली चूहे के बिल पर बनाया। पहले वह चूहा डरता था, अब उसके पास आता और उसके पैर के आगे से रोटी के टुकडे उठा लेता, फिर वह उसके जूते और कपडो पर दौडता और वह चूहा इतना हिल गया कि वह पाटे पर बैठता तब वह उसके कपडो पर उसकी बाहो मे और जिस कागज पर उसका भोजन रखा होता उस कागज के

आस-पास कूदता; वह पनीर का टुकड़ा लेना तब चूहा आता और उसके हाथ में वह उसे खाता रहता और फिर मक्खी की तरह अपना मुंह और पंजा साफ करता और चला जाता (कर्तव्य पुस्तक)।

स्वामी रामतीर्थ हिमालय पर्वत की गुफाओं में रहते थे। वाघ, सिह आदि हिंसक प्राणी भी उनको कष्ट नहीं पहुंचाते। (रामतीर्थ चरित्र)

पशु और पक्षियों पर समानभाव का बहुत असर होता है, तो मनुष्यों पर समानभाव की खूब असर हो इसमें क्या आश्चर्य ? परस्पर ऊँच नीच का भेद मानकर ब्रह्मभाव की दशा प्राप्त नहीं की जा सकती। समानभाव से सारी दुनिया के मनुष्यों के प्रति एक समान आत्मभावना जागृत होती है और इससे आत्मा, स्थूल भूमिका में भी सारी दुनिया का स्वामी बनने का अधिकार प्राप्त कर सकता है। अपनी अध्यात्म-विद्यादेवी का सत्कार कर उसे मन मन्दिर में विठाओ और उसकी आज्ञा के अनुसार संसार के समस्त प्राणियों से समान भाव रखो, फिर देखो कि पूर्व की तुम्हारी जिदगी की अपेक्षा वर्तमान जिदगी कितनी अधिक उत्तम है।

इतना तो कहे विना नहीं चलता कि, आर्यो की और आर्यावर्त की उन्नति के लिए अध्यात्मज्ञान की बहुत जरूरत है। अध्यात्मज्ञान बिना समानभाव की भूमिका दृढ़ नहीं होती। अध्यात्मज्ञान से वहुत से कृत्रिम भेदों के कदाग्रह नष्ट हो जाते हैं और अपनी जिदगी अमृत समान लगती है। अनेक भवों के उत्तम संस्कार से अध्यात्मज्ञान के प्रति रुचि होती है और उसकी प्राप्ति होती है। एक वार अपने हृदय में अध्यात्मज्ञान

का प्रकाश करो, फिर अपने हृदय की तरफ देखो, यह पहले की अपेक्षा अधिक उत्तम मालूम होगा। दुनिया के मनुष्य यदि अपनी आत्मा को पहिचाने तो पाप प्रवृत्ति के चक्र मे चढी अपनी आत्मा को शाति देने, सतोप का आह्वान कर सकता है। मनुष्य अपनी जिंदगी पर चाहे तो प्रकाश डाल सकता है। दुनिया प्रभु को पूजने का प्रयत्न करती है परन्तु हृदय का दरवाजा खोले बिना प्रभु का दर्शन करने मे समर्थ नही होता, तो पूजा की क्या बात करना? **समझे बिना मनुष्य भिक-भिक और बक-बक मे अपनी जिंदगी का अधिक भाग व्यर्थ खो देता है।** जिसने अपनी जिंदगी के लिए एकात विस्तर मे दो अश्रु नही टपकाये और जिसने अपनी आत्मा को पहिचानने के लिए अतर मे कुछ भी विचार नही किया, ऐसे मनुष्य किरात कन्या की तरह "चणोठी के हार समान" बाह्य स्वर्णादि भूपणो से अपने को उत्तम मान लेते हैं और बाद मे वे उत्तम जिंदगी को हारे चले जाते हैं। दया भाव बताने मे और शुभकाम करने में मनुष्य पीछे रहता है इसका कारण यह है कि—वे अध्यात्मज्ञान के प्रकाश से दया की बेल की वृद्धि करने की ओर लक्ष नही रखते। मनुष्यो के दोष निकालने मे मनुष्य रात दिन जीभ चलाता रहता है, परन्तु उन्हे आत्मज्ञान का बोध देने वा लेने मे तो जड बनकर कुछ भी सत्य प्रयत्न नही करता। दुनिया के मनुष्यों को उत्तम बनाना हो तो अध्यात्मविद्या की शिक्षा देने की जरूरत है। उपदेशको को उत्तोत्तम बनाना हो तो अध्यात्मज्ञान का प्रचार करने की जरूरत है। अध्यात्मज्ञान हृदय को शीतल करने के लिए दिव्य शीतल हवा है। जिसको इसका स्पर्श नही हुआ वह भले इससे दूर रहे। परन्तु जिसे उसका शीतल स्पर्श हो गया है वह देह के होते-सच्चा सुख भोगने के लिए भाग्यशाली

बनता है। अध्यात्मज्ञान यह श्री वीरप्रभु की दी हुई सुख प्रसादी है। दुनिया के मनुष्यो ! तुम जरा इस दिव्य वस्तु की तरफ दृष्टि कर उसका आस्वादन करो ! पश्चात् उसके गुण सम्बंधी बात तुम्हारा हृदय तुमको सत्य बात कहेगा।

अज्ञानी, इंद्रियों और शरीर के धर्मों में एक होकर रहता है इससे शरीर की चंचलता से अपनी चंचलता करता है। ज्ञानी की आत्मा सूखे नारियल की तरह है जिससे शरीर के धर्म में ममता, आसक्ति और वासनाओं से परिणाम नहीं पाता। ज्ञानी की आत्मा अपने धर्म में मन, वचन और काया का वीर्य परिणमाता है और शरीर के धर्मों में निर्लेप रहकर अंतर से निश्चल रहता है। मरे मनुष्य के मुर्दे को कोई हार पहिनावे, कोई पूजे, कोई लात मारे और कोई आग रखे तो उसे कुछ नही होता, वैसे ज्ञानी, मन, वाणी और काया को अपने से भिन्न मानकर उनके धर्म मे समभाव से रहता है और शरीर के धर्मों से हर्ष शोक नहीं करता। ज्ञानी ऐसी उत्तम दशा का अनुभव कर मन, वाणी और काया की चंचलता के क्षोभ को अपने मन में नही मानता, इससे वह निश्चलता के शिखर पर जा पहुँचता है। ज्ञानी को अपनी आत्मा को ध्यान के ताप से सूखे नारियल की तरह बनाने का प्रयत्न करना, कि जिससे मन, वाणी और काया के धर्मों की असर अपने पर नही हो और अध्यात्म से आगे का मार्ग प्रकाशवान हो। श्रीमद् हेम-चंद्राचार्य अध्यात्मज्ञानियों को लय समाधि का उत्तम मार्ग बताते हैं।

यावत् प्रयत्नलेशो यावत् संकल्पकल्पना कापि।
तावन्न लयस्यापिप्राप्तिस्तत्त्वस्य का तु कथा॥

(योग शास्त्र)

जहा तक प्रयत्न का प्रश्न है और जहा तक सकल्प की कुछ भी कल्पना है वहा तक लय की प्राप्ति नही होती तो तत्त्व की क्या बात करना ? एक ही वस्तु मे परा-चित को लगाने मे चित्त का लय होता है। आत्मा के गुणो मे विचरण करने और आत्मा के शुद्ध उपयोग मे स्थिर होने से लय की प्राप्ति होती है। आत्मा को आत्मारूप मे देखते रहो और किसी प्रकार का सकल्प मन में न आने दो इस तरह एक घटा करने से लयसमाधि की दिशा की जानकारी अपने आप होगी और अतिम सतोष के अनुभव की झाकी अपने आप मालूम होगी, मन मे सकल्प विकल्प का लय हो जाय ऐसी ऊपर की चावी है। शरीर, मन, वाणी और यह सारा जगत् इन सब मे से चित्त उठ जाय, और एक आत्मा मे स्थिरता हो तो लयसमाधि के प्रदेश मे प्रवेश होगा—चित्तलय के स्थूल और सूक्ष्म अनेक उपाय है, उनका वर्णन किया जाय तो एक बडी पुस्तक बन जाय इसलिए विशेष जिज्ञासुओ को गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त कर चित्तलय के उपायो मे प्रवृत्त होना। मन मे सारा जगत् एक समान वस्तुस्वभाव से दीखता है (अफसोस करना वा विषयो पर द्वेष करना ऐसा उदासीभाव ग्रहण नही करना, यहा तो हर्ष, शोक, भय, लाभ, आदि मोहवृत्तियां बिना वस्तु को वस्तुरूप मे देख कर आत्मभाव से रहने की समवृत्ति को औदासीन्यवृत्ति समझना) औदासीन्यवृत्ति मे आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है ऐसा श्रीमद् हेमचद्र प्रभु बताते हैं।

यदिद तदिति न वक्तु साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त शक्येत ।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत् स्वय तत्त्वम् ॥
(योगशास्त्र)

जो परमत्त्व है वह यह है, वा वह है, वा ऐसा है, वा वैसा है, वा ऐसा है, खेद की वात है कि ऐसा साक्षात गुरु से भी नहीं कहा जा सकता। औदासीन्यभाव में तत्पर रहे योगी को इस परमतत्त्व का अपने आप प्रकाश होता है। जो वाणी से अगोचर है उसे, गुरु ऐसा है और यह ऐसा है, इस तरह शब्दों से किस तरह बता सकते है ? और उसका किस तरह उपदेश मात्र से हृदय में निश्चय हो ? जिसे चोट लगी हो वही जानता है, दूसरा उसके दुःख को कैसे जान सकता है ? औदासीन्यभाव और अनुभव ये दो आत्मा के पास रहते हैं। अपनी आत्मा में औदासीन्यभाव लाने से अपने को आत्मतत्त्व का अनुभव-प्रकाश होता है। अनुभव को वाणी से नहीं कहा जा सकता। कहा है कि—

वीररसनो तो अनुभव जाणे-मर्दजनोकी छाती।

पतिव्रतापतिमनकु जाणे-कुलटा लातो खाती।
भया अनुभव रंग मजीठा रे, उसकी बात न बचने थाती॥

गर्भमाँहि तो बोलताने-बहिर जनम तब मूंगे,
मूंगे खाया गोल उसकी, बात कबु न करूंगे,॥ भया॥

अनुभव एवो अटपटो ते, वचने नहि कहेवातो,
वाग्यां भालडीयां ते जाणे, अनुभव ज्ञानी पातो, (स्वगत)

आत्मतत्त्वप्रकाश को प्राप्त करने का उपाय उपरोक्त रीति से वताकर श्रीमद् हेमचंद्र प्रभु उन्मनी भाव से आत्मतत्त्व का प्रकाश वताते है।

एकान्तेऽति पवित्रे रम्ये देशे तदा सुखासीनः।
आचरणाग्रशिखाग्राच्छिथिलीभूताखिलावयवः ॥ २२ ॥

रूप कान्त पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम् ।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि भुञ्जानो रसास्वाद ॥ २३ ॥

भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसी वृत्तिम् ।
परिकलितौदासीन्य प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम् ॥ २४ ॥

बहिरन्तश्च समन्तात् चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मयभाव प्राप्त. कलयति भृशमुन्मनीभावम् ॥ २५ ॥

(योगशास्त्रे चतुर्भि कालापकम्)

एकान्त पवित्र रम्य प्रदेश मे सुखासन से बैठ, पैर के अगूठे से मस्तक के अग्रभागपर्यंत समग्र अवयवो को शिथिल कर, कान्तरूप को देखते, मनोहर वाणी को सुनते, सुगन्धियो को सूघते, रसस्वाद को चखते, मृदुभावो को स्पर्शते और मन की वृत्तियो को नही रोकते हुए, औदासीन्यभाव मे उपयुक्त और नित्य विषयासक्ति विना का और बाह्य तथा अन्तरचेष्टा चिंता से रहित हुआ योगी, अपने शुद्ध स्वरूप को तन्मयभाव से प्राप्त कर अत्यत उन्मनीभाव को धारण करता है ।

अध्यात्मज्ञान विना का समस्त ज्ञान वास्तव मे बिना दूल्हा की बरात जैसा है ।

पढना गुणना सबहि जूठा जब नहि आतम पिच्छाना ।
वर विना क्या ज्ञान तमासा ? लुण विण भोजनकु खाना ॥
अलख देशमे वास हमारा (स्वगत)

आत्मज्ञान विना का पढना, गुणना आदि सब समारहेतुभूत है । दूल्हा विना का तमाशा जैसे शोभा नही देता वैसे आत्मज्ञान विना का सब ज्ञान का आडबर अपनी आत्मा की शोभा के लिए नही होता । नमक बिना का भोजन जैसे निरस लगता

है, वैसे अध्यात्मज्ञान विना की पुस्तकें भी ज्ञानियों को निरस लगती हैं। सब रसों का राजा शांतरस है। अध्यात्मज्ञान शांतरस का सार है। अध्यात्मज्ञान विना रसाधिराज शांतरस को कोई प्राप्त नहीं कर सकता। अध्यात्मज्ञान विना सच्चे शांतरस की परख नही हो सकती, जिससे मुग्ध, कृत्रिम शांत-रस को सच्चा शांतरस मान लेता है, इसलिए शांतरस की महिमा को वताने वाले ऐसे अध्यात्मज्ञान की उपासना करना चाहिए। अध्यात्मज्ञान से अपनी आत्मा को शरीर से अलग की जा सकती है। **कलिकाल सर्वज्ञ जैनधर्मोद्धारक पूज्य श्री हेमचंद्राचार्य** योगशास्त्र के वारहवें प्रकाश के अत में अध्यात्म-ज्ञान पर अपनी दृष्टि करते हैं, वहां वे श्री अध्यात्म के सम्वंध में निम्न प्रकार लिखते हे।

पृथगात्मानं कायात् पृथक् च विद्यात् सदात्मनः कायं।
उभयोर्भेदज्ञाताऽत्मनिश्चये न स्खलेद् योगी ।। (योगशास्त्र)

आत्मा को शरीर से अलग जानना और शरीर को आत्मा से भिन्न समझना; इस तरह दोनों के भेदज्ञाता योगी, आत्मा के निश्चय मे स्खलित नहीं होना। सारांश यह है कि देह से अपनी आत्मा को भिन्न समझकर ध्यान करने वाला योगी, आत्मा का प्रकाश करने में आगे वढ़ता जाता है; उसे विघ्न आते है परन्तु वह उनकी परवाह नहीं करता। दुनिया के नाम और रूप के सम्वन्ध योगी को वंधनकर्त्ता नहीं होते। अपनी आत्मा इस क्षणिक शरीर से भिन्न मालूम होने पर वासनाओं के बंधन छूटते है।

उन्मनीभाव प्राप्त करने के लिए ध्यानी महात्मा प्रयत्न करते रहते हैं। वासनाओं से अहंत्व और सुखत्व परिणति दूर

हो तब ही उन्मनीभाव दशा की तरफ बढा जा सकता है। योगी उन्मनीभाव प्राप्त करते हैं। ससार दशा मे विपरीत हुए बिना उन्मनीभाव नही आता। ससार और उन्मनीभाव का परस्पर विरोध है। नदी के सामने के बहाव मे चित्रावेल जाती है, वैसे उन्मनीभाव को प्राप्त योगी ससार से उल्टी गति करते है। ससारी जीवों को उनका सब विपरीत मालूम होता है और योगियों को ससारी जीवों से किया गया मेरा-तेरा का व्यवहार-भेदजाल विपरीत लगता है, इससे 'मिया और महोदय की तरह' दोनो के एक से विचार और आचार मिल नही सकते। ससार का विवेक अलग तरह का है और उन्मनीभाव का विवेक अलग तरह का है। उन्मनीभाव की मस्ती प्राप्त योगियो पर, दुनिया के अच्छे-बुरे शब्दो की असर नही होती, क्योंकि उन्हें लक्ष्य करके जो कहा जाता है, उससे उनका अहत्व दूर हो गया है, जिससे वे आकाश की तरह पौद्गलिक पदार्थो मे अतरदृष्टि मे निर्लेप रहते है। जो शब्द बाण की तरह या अमृत की तरह, दुनिया को असर करते हैं, उन शब्दों मे योगियों पर असर करने की शक्ति नही होती। उन्मनीभाव प्राप्त योगी दुनिया की दृष्टि में टीका के पात्र हो जाय फिर भी उनमे उन्हे बधनयुक्त वस्तुत नही होना। जो जो आश्रव के हेतु हैं वे उन्मनीभाव प्राप्त ज्ञान योगियो को सवर के हेतुरूप परिणमते हैं और जो सवर के हेतु हैं, वे दुनिया के सन्मुख मन रखने वाले अज्ञानी जीवो को आश्रवरूप से परिणमते हैं। 'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा'। इस सूत्र से समझा जा सकता है कि, उन्मनीभाव को प्राप्त ज्ञानी भोग भोगते हुए भी निर्जरा कर सकते हैं, क्योंकि वे अतर से भोगो के साथ आसक्तिवाले नही होते—वे

उन्मनीभाव में विचरण करते रहते हैं वे औदासीन्यभाव से जगत् को और भोगों को देखते रहते हैं। इसलिए वे बाह्य मे नही परिणाम सकते, ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। शंख, पंचवर्णी मिट्टी खाता है फिर भी परिणमनशक्ति के प्रभाव से वह पंचवर्णी मिट्टी उज्जवल रूप में परिणमती है। इस तरह उन्मनीभाव प्राप्त ज्ञानियों के प्रति समझना। उन्मनीभाव को प्राप्त ज्ञानी इंद्रियों द्वारा पदार्थ ग्रहण करने में आसक्ति नही रखते। इंद्रियों द्वारा इष्टानिष्ट विषयों के सम्बन्ध में होने वाले हर्ष या शोक से रहित होकर वे साम्यभाव से रहते हैं और शुद्ध अध्यवसाय धारण करते हैं, ऐसी दशा में वे रहते हैं, तब उन्हें आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। श्रीमद् कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्र प्रभु इस सम्बन्ध में योगशास्त्र में बताते हैं कि—

गृह्णंति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीद्रियाणी नो रुंध्यात् ।
न खलु प्रवर्त्तयेद्वा प्रकाशते तत्त्वमचिरेण ।।२६।। (योगशास्त्र)

अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती इंद्रियों को न रोकना या उन्हें न प्रवर्त्ताना (स्वयं तटस्थ दृष्टा रूप साम्यभाव से देखते रहना) ऐसी स्थिति में रहने से अल्पकाल में तत्त्वप्रकाश अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है। मन सम्बन्धी निम्न प्रकार वे बताते हैं।

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम् ।
अधिकीभवतिहि वारितमवारित शांतिमुपयाति ।।२७।।

मदमत्तो हि नागो वार्यमाणोप्यधिकीभवति यद्वत् ।
अनिवारितस्तु कामांल्लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ।।२८।।
(योगशास्त्र)

मन भी जहा जाता हो उस जगह से उसे वापिस नही लाना क्योकि उन विषयो से रोकने पर चित्त उधर प्रवृत्ति करता है और उसे नही मोडने से अपने आप शाँत हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोकने से वह उधर विशेष जाता है, और जब उसे नही रोका जाता तो वह अपने आप शात हो जाता है, वैसे मन को भी विषयो की तरफ से हटाने पर वह अधिक पवृत्ति करता है और नही रोकने से अपने आप थककर शात हो जाता है।

इन तीनो श्लोको का भावार्थ अति गभीर और रहस्यपूर्ण है। सामान्य बालजीवो का अधिकार इसमे नही है तथा इन तीनो श्लोको का सम्बध उन्मनीभाववाले श्लोको के साथ मेल खाता है। उन्मनीभाव को प्राप्त करनेवाले अधिकारी जीवो की दशा, श्रीमद् ने हृदय मे लाकर निकाचितकर्म के उदय होने पर उनकी अतर मे होने वाली दशा का अनुभव कर आगमो के आधार पर इन तीनो श्लोको मे इसकी जड बताई है। निकाचित भोगावली कर्म, किसी को नही छोड़ते। नदिषेण, आषाढाचार्य, आर्द्रकुमार आदि को भोगावली कर्मो ने नही छोडा। एक समय, अप्राप्त विषय होने पर भी त्यागी जैसा मन दीखता है और विषय प्राप्त होने पर निकाचिनकर्म के उदय मे मन भोगी बन जाता है। निकाचितकर्मो का उदय होने पर उन्हे भोगे बिना छुटकारा नही होता। नदिषेण ने मन को बहुत रोका फिर भी अत मे निकाचितकर्म भोगे बिना छुटकारा नही मिला। उन्मनीभाव को प्राप्त हुए ज्ञानियो को निकाचितकर्म का उदय हो तो उस समय उन्हे समभाव मे भोगना चाहिए। औदासीन्यभाव द्वारा निकाचित कर्मो को भोगते हुए हर्ष वा शोक से रहित होकर मन को शात करना,

ऐसा भाव श्रीमद् हेमचंद्र प्रभु के श्लोक का है ऐसा जानना। पांच इंद्रिय और छठे मन द्वारा विषयों को ग्रहण किया जा सकता है। इंद्रियों और मन से दूर हुई आत्मा की उन्मनी-भावदशा होती है, जिससे वह पांच इंद्रियों और मन सम्बंधी विषयों की ओर नही रुझाता और प्रवृत्ति नहीं करता, और ऐसी जब उसकी स्थिति होती है उस समय आत्मा स्वयं अपने को इंद्रियों और विषयों से भिन्न देखता है, उसे इन्द्रियों और विषयों में हुई अपनेपन की वृत्ति नहीं रहती, तथा इससे आत्मा अपने से अन्य ऐसी इंद्रियों और उनके विषयों में, कूटस्थ साक्षी रूप दृष्टि से औदासीन्यभाव में रहे ऐसा सम्भव है। इंद्रियों और उनके विषयों में प्रवृत्ति और निवृत्ति से रहित परिणति वाले आत्मा की दशा उस समय दूसरे ही प्रकार की होती है। ऐसी दशा का जिसने परिपूर्ण अनुभव किया है ऐसे योगी, इस श्लोक के हृदयगम्य भाव को समझ सकते है। जो ज्ञानी ऐसी उन्मनी दशा में रहकर इंद्रियों और इंद्रियों के विषयों की प्रवृत्ति में तटस्थ दृष्टि रखते हैं, वे उपर्युक्त श्लोकों के भाव को समझ सकते है। ऐसी उन्मनी-दशा में रहनेवाले योगी इंद्रियों तथा उनके विषयों की ओर प्रवृत्ति नही करते—यह स्थिति, किस प्रकार की होगी उसका आगम ज्ञानी ही अच्छी तरह विचार कर सकता है।

इस श्लोक का अर्थ बहुत गंभीर और अमुक अपेक्षायुक्त होना सम्भव है: हम इसका पूरा निचोड़ निकालने में समर्थ नहीं है। **यह श्लोक बालजीवों के लिए उपयोगी नहीं है, इसलिए उस तरह नहीं करना; क्योंकि उसका भाव बहुत गंभीर है। मन को जीतने का ही प्रयास करना।** मन को विषयों की तरफ जाने दिया जावे तो कभी उसका पार नही

आयगा, मन तो बदर जसा है, चाहे जितना विषयो की ओर जावे फिर भी वह कभी शात नहीं होता, इसलिए मन को विषयों के प्रति दौडने से रोकना ऐसा हमारा अभिप्राय है। श्रीमद् हेमचद्र प्रभु के श्लोक का अर्थ उन्मनीभाव साधक जीवो को अमुक अधिकार से ही उपयोगी हो ! वा अन्य हो ! यह भाव तो श्रीमद् के हृदय मे रहा, परन्तु हमे यहा इतना ही कहना है कि, बालजीवो को ऊपर के श्लोक कच्चे पारे जैसे हो सकते हैं, इसलिए अन्य शास्त्रो मे कहा है कि, "अपात्र श्रोताओं को अध्यात्मज्ञान नही देना"।

उन्मनीदशावाले ज्ञानियो की आत्मदशा उच्च प्रकार की होती है जिससे उनके लिए जो कुछ भी लिखा गया हो वह सब गुरुगम से समझने जैसा है, क्योकि गुरुगम बिना सम्यग्ज्ञान नही हो सकता। आत्मा को उच्च दशा प्राप्त करने के लिए औदासीन्यभाव का वारवार सेवन करना चाहिए। औदासीन्य भाव से आत्मा अपने स्वरूप मे परिणमती है और अपनी आत्मा का प्रकाश स्वय आत्मा देख सकती है। औदासीन्यभाव से इस काल मे हमेशा रहना यह सम्भव नहीं, फिर भी औदासीन्यभाव का अवलवन लेने का प्रयत्न किया जाय तो अत मे उस दिशा मे गमन किया जा सकता है। आत्मा के धर्म रूप सम्यग्ज्ञान और श्रद्धा होने से परभाव परिणमन टलता है और स्वधर्म परिणमन होता है। अध्यात्म-ज्ञानियो को मन को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उपाध्यायजी कहते है कि—जब लग आवे नहि मन ठाम, तब लग कष्ट क्रिया सवि शुनी, ज्यु गगनचित्राम॥ जब लग॥ मन को स्थिर करने के लिए श्री हेमचद्र प्रभु ने निम्न उपाय बताये हैं।

यहि यथा यत्र यतः स्थिरीभवति योगिनश्चलंचेतः ।
तहि तथा तत्र ततः कथंचिदपि चालयेन्नैव ॥२९॥
अनयायुक्त्याऽभ्यासं विद्धानस्यातिलोलमपि चेतः ।
अंगुल्यग्रस्थापितदण्ड इव स्थैर्यमाश्रयति ॥३०॥

(योगशास्त्र)

जब, जैसे, जहां जिससे योगी का चंचल चित्त स्थिर हो तब, वैसे, वहां, उससे किसी भी तरह चित्त को चलायमान नही करना। इस युक्ति से अभ्यास करने वाले का मन अत्यंत चचल हो फिर भी अंगुली के अग्रभाग पर स्थापित दण्ड की तरह स्थिरता प्राप्त करता है। मन की स्थिरता होने में दृष्टिजय की भी आवश्यकता है। इसलिए प्रसंगवश वह भी बताते है।

निःसृत्यादौदृष्टिः संलीना यत्र कुत्रचित्स्थाने ।
तत्रासाद्यस्थैर्यं शनैः शनैर्विलयमाप्नोति ॥ ३१ ॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूताशनैः शनैर्दृष्टिः ।
परतत्त्वामलमुकुरे निरीक्षते ह्यात्मनात्मानम् ॥ ३२ ॥

(योगशास्त्र)

प्रथम दृष्टि निकलकर चाहे किसी स्थान में लीन हो वहां, स्थिर होकर वहां से धीरे धीरे विलय होती है, अर्थात् वहां से पीछे हटती है; इस तरह सर्वत्र फैली हुई और वहां से पीछी हटी हुई दृष्टि परमतत्वरूप निर्मल आदर्श मे आत्मा के द्वारा आत्मा को देखती है।

पुनः श्रीमद् हेमचंद्राचार्य **मनोजय की कुंजी** बताते हुए कहते है कि—

औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा ।
भावितपरमानंदः क्वचिदपि न मनोनियोजयति ॥३३॥

करणानि नाधितिष्ठत्युपेक्षितं चित्तमात्मनाजातु।
ग्राह्ये ततो निजनिजे करणान्यपि न प्रवर्तन्ते ॥३४॥
नात्मा प्रेरयति मनो न मनः प्रेरयति यहि करणानि।
उभयभ्रष्टं तर्हि स्वयमेव विनाशमाप्नोति ॥३५॥
(योगशास्त्र)

निरन्तर औदासीन्य मे निमग्न हुए और प्रयत्नरहित भावित परमानंद आत्मा किसी भी जगह मन को नही जोडता। इस तरह आत्मा को प्रवर्तित करने से, आत्मा द्वारा उपेक्षा किया गया मन किसी समय इंद्रियों का आश्रय नही लेता और ऐसी दशा मे मन के आश्रय बिना इंद्रिया भी अपने अपने विषयों की तरफ नही जाती। जब आत्मा स्वयं मन को प्रेरित नहीं करता और मन जब इंद्रियों को विषय की ओर प्रेरित नहीं करता, तब दो से भ्रष्ट हुए स्वयं ही विनाश को प्राप्त होता है— इस तरह मन का जय करने से जो दशा होती है वह बताते है।

नष्टे मनसि समन्तात् सकले विलयं सर्वतो याते।
निष्कलमुदेतितत्त्वं निर्वातस्थायिदीपइव।३६। (योगशास्त्र)

चारो तरफ से मन के रागद्वेषरूप विकल्प-संकल्प से मन नष्ट होने पर भी, वायु बिना स्थिर रहे दीपक की तरह निष्कलंक आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है। मन की ऐसी दशा करने के लिए अत्यंत प्रयत्न करने की जरूरत है। रात दिन मन को स्थिर करने के लिए लक्ष रखना जरूरी है। "मन साध्युं तेणें सघलुं साध्युं एह बात नवि खोटी"—मन को वश मे करना यह कोई बालक का खेल नही है, मन की चंचलता बंदर से भी ज्यादा है। मूल तो मनरूप बंदर और उसे मोहरूप शराब पिलाई गई हो और उसे विषयरूप छप्पर पर कूदने को मिले और उसमे मिथ्यात्वरूप वृश्चिक ने काटा हो, तो फिर कूदाकूद

करने में क्या वाकी रहा ? अर्थात् चौरासी लाख जीव योनियों में कूदा-कूद करने में वाकी रही रखता **"मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो: ।। यत्रैवालिङ्गिता कान्ता तत्रैवालिङ्गिता सुता ।"** श्रीमद् मुनि सुन्दरसूरि महाराज स्वरचित अध्यात्म कल्पद्रुम के चित्तदमनाधिकार में संसार भ्रमण का मूल हेतु मन है, ऐसा बताते हुए लिखते हैं कि—

सुखाय दु:खाय च नैव देवा न चापि काल: सुहृदोऽरयो वा ।
भवेत्परं मानसमेव जन्तो संसारचक्रभ्रमणैकहेतु: ।।४।।

(अ. कल्पद्रुम)

आत्मा को सुख दु:ख देने के लिए साक्षात् देवता भी समर्थ नहीं है । काल भी जीव को सुख दुख देने में समर्थ नहीं है, तथा मित्र और शत्रु भी सुख दुख देने में समर्थ नहीं हैं, परन्तु प्राणि को संसार चक्र मे परिभ्रमण कराने का मूल हेतु मन ही है । मन से प्राणि को सुख दुख होता है । **मन के वश में हुआ आत्मा ही स्वयं स्वर्ग और नरक है ।** रागद्वेषात्मक मन के संकल्प और विकल्प पर कर्मबंधन का आधार है । मनोनिग्रह हुआ हो तो सब सिद्ध हुआ; ऐसा बताते हुए श्री मुनि सुन्दरसूरि कहते है कि—

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात् किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पै: किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ।।५।।

(अ. कल्पद्रुम.)

जैसे मन समाधिवंत होकर अपने वश में रहता है, उसे फिर यम नियम से क्या ? वैसे ही जिनका मन दुर्विकल्पों वाला है उसे भी यमनियम से क्या ? **यमनियम द्वारा मन को वश में करना जरूरी है ।** मन में राग द्वेष के विकल्प संकल्प हो तो

यम नियम से कार्य सिद्ध नही होती; इसलिए मन को वश मे किए बिना मुक्ति मे जाने का कोई अन्य महान् उपाय नही है। मन को वश मे करने से सब कार्य सिद्ध होते हैं। सहस्रावधानी श्री मुनि सुन्दरसूरि ने मनोनिग्रह बिना दानादि धर्मो की व्यर्थता निम्न प्रकार बताई है।

दानश्रुतध्यानतपोऽर्चनादि वृथा मनोनिग्रहमन्तरेण।
कषायचिन्ताकुलतोज्झितस्य परो हि योगो मनसो वशत्वम् ॥६॥
(अ कल्पद्रुम)

दान, श्रुतज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सब धर्मानुष्ठान मनोनिग्रह बिना व्यर्थ हैं। कषाय, चिंता और आकुलता से रहित ऐसे मन का वश होना ही परम योग है। मन से भय, शोक, चिंता, राग, द्वेष, वासना, निंदा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, कपट, हिंसा क्षुद्रभाव आदि दोष निकालकर मन को निर्मल बनाना यही बडा योग है। अर्थात् धर्म के अनुष्ठान मन की निर्मलता मे फल देते हैं। यदि मनोनिग्रह न हो तो दान करना, पढना, गुणना, तपश्चर्या करना, पूजा करना आदि व्यर्थ है। उत्तम धर्मानुष्ठानो के साथ मन को वश मे रखना सीखना चाहिए, तथा मन के शुद्ध प्रणिधान से धर्मानुष्ठान करना चाहिए। सब धर्म क्रियाओं का मूल मनोनिग्रह है। मन को वश मे रखना यही राजयोग है और वही सहजयोग है। मन को वश मे करने से मोक्ष मिलता है, ऐसा श्रीमद् मुनि सुन्दरसूरि कहते हैं।

जपो न मुक्त्यै न तपोद्विभेद न संयमो नापि दमो न मौनम्।
न साधनाद्यं पवनादिकस्य किन्त्वेकमन्तःकरणं सुदान्तम् ॥७॥
(अ कल्पद्रुम)

जाप करने से मोक्ष नहीं मिलता, और दो प्रकार के तप करने से तथा संयम, दम-मौन धारण अथवा पवनादि की साधना भी मोक्ष देने में समर्थ नहीं है; किन्तु अच्छी तरह दमित ऐसा अकेला मन ही मोक्ष देने में समर्थ है।

मन को शुद्ध करने से मोक्ष मिलता है। तप करने वालों के आधीन यदि मन न हो तो तप से वे मोक्ष प्राप्त करने में शक्तिमान नहीं होते। जाप जपने वाले मनुष्यों के मन में क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, ईर्ष्या आदि है तो उस जाप से किस तरह मुक्ति मिल सकती है? अर्थात् मुक्ति नहीं मिल सकती, मन में उत्पन्न होने वाली और रही हुई सब प्रकार की वासनायें ही संसार के बंधन हेतु हैं। मन में रही सब प्रकार की वासनाओं के दूर होने पर मोक्ष मिलता है। मन को वश में करने से मुक्तावस्था अपने हाथ में आती है। मन में उत्पन्न हुई सब वासनाओं से मेरेपन की भावना निकाल दो और उन्हें कहो कि तुम मेरे से भिन्न हो, तुम्हारा और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—इस तरह तुम वासनाओं के प्रति करोगे तो वासनाओं की ताकत कम होगी और वे मृत हो जायेंगी। हम ही वासनाओं को पैदा करते है और उनका नाश भी हम अपने आत्मबल से कर सकते हैं। मन में जो अशुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें हटाने को आत्म-प्रदेश में महायुद्ध आरम्भ करना पड़ता है, और उसमें अपनी शक्ति के अनुसार विजय प्राप्त होती जाती है। मनोनिग्रह करने से चारों गति में अवतार लेने की परम्परा दूर होती है इसलिए मन को वश में करने की अत्यन्त आवश्यकता है। श्री मुनि सुन्दरसूरि महाराज मनो-निग्रह से मोक्ष निम्न प्रकार बताते है।

योगस्य हेतुर्मनस समाधि पर निदान तपसश्च योग ।
तपश्च मूल शिवशर्मवल्लया मन समाधि भज तत् कथञ्चित ।।६।।
(अ कल्पद्रुम)

मन की समाधि, योग का कारण है, योग तप का उत्कृष्ट साधन है और तप शिवसुख बेल का मूल है । इसलिए हे जीव! किसी भी तरह मन की समाधि रख ! मन की स्थिरता विना समाधि प्राप्त नही होती । अध्यात्मज्ञान विना मन को स्थिर करने की भावना उत्पन्न नही होती । मन को स्थिर करने के असख्य योग हैं । जिस-जिस निमित्त से मन स्थिर होता है उन-उन निमित्तो का अवलबन लेकर आत्मा के अनुभव प्रकाश को विकसित करना चाहिए । श्रीमद् हेमचन्द्र प्रभु औदासीन्य-भाव से मन को आधीन रखने से अनेक लब्धिया प्रकट होती है ऐसा कहते हैं । आचार्य श्री हेमचद्र प्रभु उन्मनीभाव की विशेष महत्ता अपने अनुभव मे बताते है ।

कदलीवच्चाविद्यालोलेन्द्रियपत्रकामनःकदा ।
अमनस्कफले दृष्टे नश्यति सर्वप्रकारेण ।।४०।।
(योगशास्त्र)

चचल इद्रियरूप पत्रोवाली और मनरूप कदवाली अविद्या-रूप केल, अमनस्कतारूप फल देखते हुए भी सब प्रकार से नष्ट हो जाती है । केल को फल आने के बाद काट दिया जाता है क्योकि उसमें फल नही आ सकते । अविद्यारूप बेल वास्तव मे अमनस्कतारूप फल देखने के बाद नष्ट होता है । अविद्या का नाश करना हो तो अमनस्कपन की प्राप्ति करना, ऐसा श्रीमद् का अनुभव है । अमनस्कता का उदय होते ही कैसी दशा होती है, यह हेमचद्र प्रभु निम्न प्रकार बताते हैं ।

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम् ।
अमनस्कोदयसमये योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥४२॥
समदरिन्द्रियभुजगै रहिते विमनस्कनवसुधाकुण्डे ।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम् ॥४३॥
रेचकपूरककुम्भककरणाभ्यासक्रमं विनाऽपि खलु ।
स्वयमेव नश्यति मरुत् विमनस्के सत्यऽयत्नेन ॥४४॥
चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव ।
सत्यऽमनस्के तिष्ठति ससमीरस्तत्क्षणादेव ॥४५॥
यातेऽभ्यासे स्थिरतामुदयति विमले च निष्कले तत्त्वे ।
मुक्त इव भाति योगी समूलमुन्मूलितश्वासः ॥४६॥
(योगशास्त्र)

अनमस्कता के उदय के समय योगी, बिखर गया हो, अथवा जल गया हो, उड़ गया हो या विलय प्राप्त हुए की तरह अपनी साथ रहे शरीर को समझता है। सारांश यह है कि—शरीर होते हुए भी अपने पास शरीर नही समझता, ऐसी उसकी दशा हो जाती है। अमनस्कदशा प्रकट होने पर योगी को शरीर का भान नही रहता, अर्थात् उसकी अवधूत दशा हो जाती है। दुनिया की दृष्टि मे वह पागल जैसा लगता है, क्योंकि सासारिक विवेक के साथ और सांसारिक व्यवहार के साथ उसके मन का सम्बंध हट जाने से उसे बाह्य का विवेक नहीं रहता। इससे दुनिया यह समझती है कि, यह भावविहिन हो गया है। वस्तुतः विचार किया जाय तो उसे शरीर का भान नहीं रहने से शरीर की भी स्पृहा नही रहती। जिस समय उसके मन का सम्बंध बाह्य पदार्थो के साथ नही होता उस समय बाह्य में उसका विवेक नही रहता। अमनस्क दशा वाले योगी अंतर में लयलीन रहते हैं। वे आत्ममस्त वा

अलखराम कहलाते है। जिन्हे शरीर के होते शरीर नही है ऐसा जान पडता है, ऐसे योगी को बाह्य पदार्थों मे प्रेम वा द्वेष की वृत्ति स्फुरित नही होती।

मदोन्मत्त इद्रियरूप सर्पों विना वाले उन्मनीभावरूप नये अमृत के कुण्ड मे मग्न हुए योगी, असमान उत्कृष्ट ऐसे तत्वामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं।

अमनस्कता वा उन्मनीभाव की प्राप्ति होने पर भी, रेचक पूरक, कुभक और आसन के अभ्यासक्रम बिना-प्रत्यन बिना वास्तव मे पवन स्वय नाश हो जाता है। उन्मनीभाव मे आये योगी को प्राणायाम वा आसन के अनुक्रम की भी अपेक्षा नही रहती। पवन का नाश करने के लिए योग के अगो का अनुक्रम से अभ्यास करना पडता है। उन्मनीभाव दशा के उदय से पहले अनुक्रम से अभ्यास करने की गुरुगमपूर्वक व्यवस्था है, परन्तु उन्मनीभाव होने के बाद तो वायु का सहज ही अवरोध हो जाता है, यह बात अनुभवी लोग जान सकते हैं। चिरकाल पर्यंत तक किये प्रयत्नो से जो वायु रुक नही सकती, वह वायु वस्तुत उन्मनीभाव प्राप्त होने पर तत्क्षण रुक जाती है। उन्मनीभाव मे रहने का अभ्यास करने वाले योगियो को सहज ही इस बात का अनुभव होता है। **यत्र तत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय** उक्त विषय को अनुभव मे रखकर, उसकी परीक्षा करनी चाहिए। उन्मनीभाव प्राप्त होने पर वायु स्वय ही स्थिर हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र मे चित्त रखने से नासिका द्वारा निकलता वायु बंध होता हुआ मालूम पडता है। जब मन किसी भी विषय की ओर नही जाता और मुर्दे जैसा हो जाता है, अपने आप मे लयलीन हो जाता है और उसके साथ वायु का भी अवरोध हो जाता है।

इस तरह के अभ्यास में स्थिरता प्राप्त होने पर और निष्कल तत्त्व उदय में आने पर, मूल से श्वांस का उन्मूलन कर योगी मुक्त हुओं की तरह शोभा देते हैं। श्रीमद् हेमचंद्र प्रभु अपना अनुभव इस तरह बताते हैं। इससे मालूम होता है कि उनका उन्मनीभाव सम्बंधी गहरा अभ्यास होगा। वे इस विषय में बहुत गंभीरनाद से स्वानुभव से प्रगट कर बताते हैं। उन्मनीभाव प्राप्त हुए योगी की अवस्था श्रीमद् निम्न प्रकार बताते हैं।

जो योगी जागृत अवस्था में स्वस्थ है वह लयावस्था में ऊंघते की तरह रहता है। वह श्वासोछ्वास रहित ऐसी लयावस्था में योगी वास्तव में सिद्ध के जीव से कम नही होता। लयावस्था की दशा में रहे ऐसे इस संसार में शरीर होते हुए भी अशरीरी ऐसे सिद्ध के सुख का अनुभव कर अंत में सिद्धत्व प्राप्त करता है। जिसके मन में मुक्ति के सुख का निश्चय नहीं होता हो उसे लयसमाधि प्राप्त कर उसका निर्णय करना। लयावस्था में मुक्ति के सुख का अनुभव होता है। लयसमाधि की प्राप्ति के लिए गुरुगमपूर्वक अध्यात्मशास्त्रों और योगशास्त्रों का अभ्यास कर निःसंगावस्था धारण करना जरूरी है। लयसमाधि में चित्त का लय होता है। चित्त के विकल्प-संकल्प नष्ट हुए बिना आत्मा के सहज सुख का निश्चय नही होता। श्रीमद् ने लयसमाधि का अनुभव प्राप्त किया है ऐसा उनके इस रचित श्लोक से मालूम होता है। लयावस्था मे वाह्य वस्तुओं का भान नहीं रहता। मन का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बंध नही होता तब आत्मा क्रमशः गुणस्थानक पर चढ़कर आत्मा की अनंतगुणी शुद्धि करता है, और आत्मा स्वयं अनंतगुण विशुद्ध अध्यवसाय को धारण करता है। जैसे जैसे

वहां दुख का भी स्वप्न नहीं आता। शरीर रहे वा जावे इसकी परवाह नहीं रहती, इस सुख का स्वाद लेने के बाद संसार छूटता है, उसे कोई भी बांध नही सकता। इस लयसमाधि की अवस्था में रहने वाला आत्मारूप बादशाह अलख पुरुष समझा जाता है। इस दशा में रहने वाले को आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव होता है। मोह की सब प्रकृतियां शांत हो गई हो उस अवस्था में मोह के अभाव में आत्मा का सुख आत्मा को हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। वहां ज्ञाति नहीं, जाति नहीं, वेद नही, मैं नहीं वा तू नहीं, वहां जो है वह आनंद ही है। आनंद आनंदमय स्वयं को अनुभव होता है। ऐसी लयसमाधि ही सहज सुख लब्धि है। ऐसी लयसमाधि यह बड़े से बड़ा चमत्कार है। ऐसी लयसमाधि यह वीरप्रभु के हृदय सुख का नमूना है। ऐसी लयसमाधि बिना शब्दों की पुस्तक है। ऐसी लयसमाधि ही आत्मा में रहा अमृत है। लयसमाधि में जो हैं वे स्वयं ही हैं, बाकी अन्य कोई नही। स्वप्नदशा में वास्तव में शून्यभाव होता है. और जाग्रत अवस्था में जगने के बाद पंचेंद्रिय स्व स्व विषयो को ग्रहण करती है। इन दो दशा के बाद लयावस्था में आनंदमय तत्त्व रहा हुआ है। लयावस्था का श्रीमद् को अनुभव हुआ है। इसलिए वे श्लोकों द्वारा स्व-अनुभव के उद्गार निकालकर लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित करने को निम्न प्रकार कहते है।

कर्मण्यपि दु:खकृते निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु।
न ततः प्रयतेत कथ निष्कर्मत्वे सुलभमोक्षे ॥५०।

(योगशास्त्र)

कर्म दुःख के लिए हैं और निष्कर्मपन सुख के लिये है, ऐसा तुमने हमने जाना तो निष्कर्मसाध्य सुलभ मोक्ष के लिए

किसलिए हे जगत् के जीवो ! तुम प्रयत्न नही करते ! श्रीमद् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचद्रप्रभु ने हृदय से यह उपदेश जगत् के लोगों को दिया है । जिस जिस अश मे परभाव क्रिया रहित होना उस उस अश मे मोक्ष है, जिस जिस अश मे वासनारहित होना उस उस अश मे मोक्ष है। एक हाथ मे बहुत सी डोरिया बधी हो, उनमें से जितनी डोरिया निकाल दी जावे उतनी डोरियों से हाथ खाली होता जाता है। जिस जिस अश मे कर्म की क्रियाओ से मुक्त हुआ जाय, अर्थात् कर्म की क्रिया से निष्कर्म हुआ जाय उस उस अश मे आत्मा की मुक्ति होती है। चलते, हिलते, और दौडते जीव, समय समय पर सात व आठ कर्म का बधन करता है। इसलिए मन, वाणी, और काया के योग की क्रियाओ से रहित हुआ जाय तो आत्मा की मुक्तता विकसित होती है और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर वह आत्मा सम्पूर्ण मुक्त होकर सिद्धशिला पर सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा रूप मे विराजमान हो जाती है। निष्क्रियावस्था से मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। लयावस्था मे इस बात का अनुभव होता है और जिससे निष्क्रियावस्था प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। निष्क्रियावस्था मे सत्य सुख का सागर प्रकट होता है। निष्क्रियावस्था से जिसने आनद की खुमारी चखी है, वही निष्क्रियरूप अपना शुद्धस्वरूप प्रकट करने-लयसमाधि की अवस्था में रहने का प्रयत्न करता है। उन्मनीभाव से लयावस्था साध्य होती है। लयावस्था से निष्क्रियावस्था के सुख का साक्षात अनुभव होना है। लयावस्था द्वारा उत्तम निष्क्रियावस्था के सुख का अनुभव कर, श्री हेमचद्र प्रभु लोगों को इस दिशा मे आने को सबोधित करते हैं। धर्मोदयकारक श्री हेमचद्र प्रभु ने अमुक अश मे लयावस्था द्वारा निष्क्रियावस्था

का, सत्य सुखानुभव किया है इसीसे वे हृदय के सच्चे भाव को खुले शब्दों में जगत् के सामने निम्न प्रकार रखते हैं।

मोक्षोऽस्तु मास्तु यदि वा परमानंदस्तु वेद्यते स खलु।
यस्मिन्निखिलसुखानि प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव।।५१।।
(योगशास्त्र)

मोक्ष हो या न हो (चाहे जब मोक्ष हो) परन्तु ध्यान द्वारा मोक्ष का परमानन्द तो वास्तव मे हम यहां भोगते हैं। जिस परमानन्द के सामने दुनिया के सब सुख तो कुछ भी नही है ऐसा मालूम होता है। श्री हेमचंद्र ने अपने हृदय का वास्तविक रस इस श्लोक मे भर दिया है। दुनिया के पंचेन्द्रिय विषयसुख और आत्मिक सुख की तुलना इस श्लोक में की गई है। दुनिया के सुख के उस पार रहा ऐसे आत्मा के नित्यसुख का जिसे अनुभव हो वही ऐसे उद्गार निकालने में समर्थ होता है। मोक्ष के परमानन्द का स्वाद तो हमें आता है, ऐसा श्रीमद् मुक्त-कंठ से कहते हैं। मोक्ष के परमानन्द का स्वाद आता है यह तो निश्चय है और उसे कहने वाले कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्र प्रभु हैं। उनकी आत्मा मोक्ष के परमानन्द का अमुकदशा में भोक्ता हुआ है। उनके जैसे महापुरुष मोक्ष का परमानन्द वास्तव मे उन्मनीभाव और लयावस्था से भोगे इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नही है। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्म और योग शास्त्रों द्वारा आत्मा में गहरे उतरे महात्मा, दुनिया के सुख को तृणवत् समझकर आत्मा के सुख में सदा मस्त रहते हैं। अमृत के स्वाद के बाद कौन छाछ पीने की इच्छा करेगा ? उसी तरह लयावस्था से मोक्ष का परमानन्द वास्तव में शरीर से जीवित होते हुए जो महात्मा भोगते है वे महात्मा दुनिया के क्षणिक सुख से दूर रहे और उनके लिए उनकी प्रवृत्ति न हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य

नही है। शरीर मे रहते हुए भी लयावस्था से शरीरातीत, इद्रियातीत, (मन से अग्राह्य) ऐमे मोक्ष के परमानन्द को प्राप्त करना हो तो उन्मनीभाव और लयसमाधि को प्राप्त करो। मोक्ष का सुख कैसा है ? यह प्रश्न पूछ कर व्यर्थ समय गवाकर लयसमाधि का माग ग्रहण करो, अर्थात् स्वय मोक्ष का सुख भोगा जा सकेगा, इसमे जरा भी शका नही है। वडे वडे मुनिवरो ने लयसमाधि का आश्रय लेकर मोक्ष के परमानन्द का अनुभव किया है। लयावस्था से मोक्ष का परमानन्द साक्षात् भोगा जायगा। और जिसमे अपने भव्यपन का विश्वास होगा, तथा थोडे भव मे मुक्ति की प्राप्ति होगी। लयावस्था से मोक्ष परमानन्द भोगते हुए मुक्ति के सुख की पूर्ण श्रद्धा हो यानी आत्मा के भव्यपन का निर्णय हो इसमे क्या आश्चर्य ? लयावस्था मे मुक्ति के सुख का यहा साक्षातकार होने से ससार और मुक्तावस्था समान मालूम होते है। इस वात का निश्चय इस दिशा मे आगे बढे मुनिवरो के हृदय मे होता है। सारी दुनिया का साध्यविंदु सुख है, क्योकि सम्पूर्ण दुनिया के मनुष्य सुख के लिए रात-दिन धामधूम करते है, परन्तु उनको जो सुख मिलता है वह क्षणिक होने से उन्हे शाति नही मिलती और ससार मे सुख प्राप्त करने के लिए प्रतिक्षण अधिक अधिक प्रयत्न करते है। उनका शरीर दुर्बल हो जाता है और शरीर मिट्टी बन जाता है, फिर भी दुनिया के मनुष्य सच्चे नित्य परमानद-भोगी नही वन सकते, परन्तु यदि वे श्रीमद् ने बताई ऐसी लयसमाधि की तरफ प्रवृत्ति करे तो श्रीमद के आत्मा की तरह मोक्ष का परमानन्द यहा भोग सकेगे। श्रीमद श्री हेमचद्रसूरि इस तरह अपने को हुए मोक्ष के परमानन्द के उद्गार बाहर निकाल कर अब सदैव लयावस्था मे होने वाले सुख का

उपदेश देते हुए भी निम्न प्रकार अपने मनमित्र को शिक्षा देते हैं।

मधु न मधुरं नैता: शीतास्त्विषस्तु हिमद्युते-
रमृतममृतं नामैवास्या: फले तु मुधा सुधा।
तदलममुना संरंभेण प्रसीद सखे मन:
फलमविकलं त्वय्येवैतत् प्रसीदमुपेयुष: ॥५२॥ (योगशास्त्र)

इस लयावस्था द्वारा होने वाले परमानंद के सामने मधु मधुर नहीं है, चंद्रमा की कांति शीतल कांति नहीं है, अमृत नाम मात्र के लिए अमृत है और सुधा तो व्यर्थ है, इसलिए हे मनमित्र ! इस दुनिया के प्रयास से मैं अब ऊब गया, मेरे पर तू प्रसन्न हो, क्योंकि लयावस्था द्वारा निर्दोष सहज सुख रूप फल प्राप्त करना वह तेरे प्रसन्न होने पर ही मिल सकता है। **मन से अनेक-प्रकार के दोष निकल जाना और मन का आत्माभिमुख होना, यही मन की प्रसन्नता है।** आत्मा के गुणों में मन लीन हुए विना आत्मा का परमानंद प्रकट नहीं होता, इसलिए श्रीमद् ने मन को प्रसन्न करने के लिए उपरोक्त बात कही है। श्री हेमचंद्र महाराज कहते हैं कि श्री सद्गुरु की मन, वाणी और काया द्वारा उनकी छाया की तरह बनकर उपासना किए विना परमानंद की प्राप्ति नहीं होती। **जैन शास्त्रों में पंच महाव्रतधारी साधु ही गुरु समझे जाते है,** इससे यहां साधुओं को समझना। वर्तमान काल में इक्कीस हजार वर्ष पर्यंत साधुरूप गुरुओं का अस्तित्व रहेगा। साधु संसार से मुक्त होकर मोक्ष मार्ग की आराधना कर सकते हैं, इसलिए जैन शासन में वे गुरुपद के अधिकारी माने गये है। परमानंदप्रद गुरु महाराज की उपासना किये विना परमानंद प्राप्त नहीं

होना । जो गुरुगम बिना परमानद ढूढने जाते है वे भटककर पीछे आते हैं, और उसकी स्थिति भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए ही हेमचद्र प्रभु ने गुरु की उपासना द्वारा परमानद मिलता है ऐसा शास्त्रीयानुभव बताया है ।

सत्येतस्मिन्नरतिरतिद गृह्यते वस्तुदूरा—
दप्यासन्नेप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किञ्चित् ।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेतौ—
विच्छावाढ न भवति कथे सद्गुरूपासनायाम् ।।५३।। (यो शा)

सद्गुरु की उपासना करने से, अरति को देने वाली व्याघ्रादि वस्तुए और रति को देने वाली चदनादि वस्तुए मनुष्यो द्वारा, दूर से भी ग्रहण या स्वाधीन की जा सकती हैं, वे ही मनुष्य सद्गुरु की उपासना के अभाव मे नजदीक रही हुई वस्तुए, ग्रहण या स्वाधीन नही कर सकते । ऐसा जानते हुए भी उन्मनीभाव के हेतुभूत सद्गुरु की उपासना के सम्बध मे मनुष्यो की तीव्र इच्छा क्यो नही होती ? आचार्यश्री मनुष्यो को उन्मनीभाव के लिए खास तौर पर सद्गुरु की उपासना के लिए उपदेश देते है और यह जानने पर भी सद्गुरु की उपासना करने की इच्छा नही करते वे अज्ञान के दास बने हुए है ऐसा समझना । श्री हेमचद्र ने अपने गुरु की अच्छी तरह उपासना की थी । श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय ने भी सर्व वस्तु की प्राप्ति के लिए गुरु उपासना पर मुख्य रूप से जोर दिया है । श्री धर्मदास गणि ने भी उपदेशमाला मे सद्गुरु की उपासना सम्बधी सुन्दर वर्णन किया है । योगशास्त्र के अन्त मे आचार्यश्री ने सद्गुरु की उपासना पर जोर देकर वास्तविक सेवा की है । "गुरु के बिना सम्यग्ज्ञान नही होता' । उन्मनीभाव की

प्राप्ति के लिए सद्गुरु की उपासना आवश्यक है। सद्गुरु की उपासना से शास्त्रों का ज्ञान होता है। अनेक प्रकार के अनुभव होते है। गुरुकुलवास से परंपरा से चली आई अनेक बातों के अनुभव की प्राप्ति होती है। पूर्वकाल मे सूरिमंत्र और वर्धमान विद्या आदि गुरु की कृपा से शिष्य प्राप्त करते थे, तव वे तेजस्वी होते थे। श्री हेमचंद्र अपने गुरु की कृपा से महासमर्थ हुए थे। गुरु की कृपा और आशीर्वाद से अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति होती है इसमें जरा भी संदेह नहीं है। गुरु की कृपा से श्री यशोविजयजी उपाध्याय भी बड़े प्रभाविक हुए है। गुरु की कृपा से अनेक शिष्यों को उच्च पद की प्राप्ति हुई है। गुरु की सेवा-भक्ति और वैयावच्च से जो कुछ प्राप्त होता है वह हमेशा के लिए कायम रहता है। उन्मनीभाव की प्राप्ति तो कभी भी गुरु की कृपा और आशीर्वाद के नहीं होती। गुरु के नाभि के उछाले से दी गई आशीष से उन्मनीभाव के प्रकाश को प्राप्त करने के लिए शिष्य भाग्यशाली होना है। उन्मनीभाव वा लयसमाधि यह एक ही है; यह पुस्तके पढ़ने मात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। नागार्जुन जैसे को भी गुरुगम बिना आकाश मे उड़ने की शक्ति प्राप्त नहीं हुई। जब गुरु की कृपा प्राप्त की फिर उन्हें आकाशगमन की सिद्धि मिली। चाहे जैसा ज्ञानी हो तब भी उसे उन्मनीभाव की प्राप्ति के लिए—छोटे बालक की तरह गुरु की उपासना में तत्पर होना चाहिए। अध्यात्मज्ञान मे गहरे उतरे श्रीमद् हेमचंद्र प्रभु की हितशिक्षा को भूलना ठीक नहीं। अध्यात्मज्ञान और योगज्ञान के लिए उनका जितना उपकार माना जाय उतना कम है। अध्यात्म का साध्य बिंदु सहजानन्दानुभव है; उसका मार्ग वास्तव में श्री हेमचंद्र प्रभु ने बताया है। इस विषय पर श्री यशोविजयजी उपाध्याय ने

भी अध्यात्मसार ग्रंथ की रचना कर अच्छा प्रकाश डाला है। उपाध्यायजी अध्यात्मशास्त्रों के आनद के बगीचे अपने पीछे जीवत छोड गये है, इस कारण वे भी शब्द देह रूप मे जीवित है। अध्यात्मसार मे मन को वश मे करने के लिए उन्होने वैराग्य ज्ञान आदि उपाय बताये है। अध्यात्मज्ञान की महत्ता सम्बधी निम्न प्रकार वे लिखते है।

पश्यन्नन्तर्गतान्भावान् पूर्णभावमुपागत
भुञ्जानोऽध्यात्मसाम्राज्यमवशिष्ट न पश्यति ॥५५॥ (अ सार)

अन्तगत भावो को देखते और पूर्ण भाव को प्राप्त हुए, अध्यात्म वैभव को भोगने वाला ज्ञानी दूसरो को नही देखता। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने ज्ञानादि गुणो का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से कर्मकृत सुख दुख का भोक्ता है। निद्रावस्था मे जैसे अहकार रहित सुख का अनुभव होता है, वैसे शुद्ध विवेकदशा मे साक्षात् सुख का अनुभव होता है। बाह्य वस्तुओ के सम्बध बिना स्वय ही स्वय मे से उद्भासित सुख को स्वय की आत्मा अनुभव करती है। शुद्धाय से आत्मा स्वय शुद्धभाव का कर्त्ता बनता है। आत्मा अपने स्वरूप मे रमण करे और कषायो का रोध करे, वही अध्यात्म दृष्टि से सत्य तप गिना जाता है, ऐसा उपाध्यायजी निम्न प्रकार कहते है।

यत्र रोध कषायाणा ब्रह्मध्यान जिनस्य च।
ज्ञातव्य तत्तप शुद्धमवशिष्ट तु लङ्घनम् ॥५६॥ (अ सार)

जहा कषाय का रोध हो और परमात्मा का ध्यान हो, वही शुद्ध तप समझना, बाकी तो लघन जानना। इस तरह यह्वर शुद्ध तप करने के लिए उपाध्यायजी, जीवो को माग

वताते हैं। अध्यात्मज्ञान से जो तप किया जाता है उससे आत्मशुद्धि निम्न प्रकार वताते हैं।

अज्ञानी तपसा जन्म-कोटिभिः कर्मयन्नयत्।
अन्तं ज्ञानतपोयुक्तस्तत्क्षणेनैव संहरेत् ॥१६१॥

ज्ञानयोगस्तपःशुद्धमित्याहुर्मुनिपुङ्गवा।
तस्मान्निकाचितस्यापि कर्मणो युज्यते क्षयः ॥१६२॥

(अध्यात्मसार)

अज्ञानी, करोड़ों जन्म द्वारा-तप से जो कर्म क्षय करता है, उस कर्म को ज्ञान-तपयुक्त ज्ञानी एक क्षण में दूर करता है, इसलिए ज्ञानयोग तप शुद्ध है; क्योंकि **ज्ञानयोग तप से निकाचित कर्मों का क्षय होता है।** अध्यात्मज्ञान पूर्वक तप करने की महत्ता जो वताई गई है वह मनन करने योग्य है। अध्यात्मज्ञान विना अज्ञानियों के कर्म चित्त की शुद्धि करने में समर्थ नहीं होते, वह निम्न प्रकार वताते हैं।

अज्ञानिनां तु यत्कर्म न ततश्चित्तशोधनम्।
योगादेस्तथाभावाद् म्लेच्छादिकृतकर्मवत् ॥२८॥

(अध्यात्मसार)

अज्ञानियों के जो कर्म हैं उनसे चित्त की शुद्धि नहीं होती, क्योंकि म्लेच्छादियों के किए कर्म की तरह, ज्ञान योगादि का सद्भाव उनमें नहीं होता है। ज्ञानगर्भित वैराग्य से अध्यात्म-ज्ञान की स्थिरता होनी है। अध्यात्मज्ञानी क्रियानुष्ठानों द्वारा कर्मों का नाश करते है। दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य से अनंतगुणा उत्तम ऐसा ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त करना चाहिए। ज्ञानगर्भित वैराग्य से अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानगर्भित वैरागी को कदाग्रह नही होता।

कदाग्रह के नाश से ज्ञानगर्भित वैराग्य मालूम होता है, उस सम्बध मे श्री यशोविजयजी उपाध्याय निम्न प्रकार वतलाते है।

उत्सर्गे चापवादेऽपि व्यवहारेऽथ निश्चये।
ज्ञाने कर्मणि वाऽय चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३५॥
स्वागमेऽन्यागमार्थाना शतस्येव परार्द्धके।
तावताप्यबुधत्व चेन्न तदाज्ञानगर्भता ॥३६॥
नयेषु सार्थसत्येषु मोघेषु परचालने।
मध्यस्थ्य यदि नायात न तदाज्ञानगर्भता ॥३७॥
आज्ञयागमिकार्थाना यौक्तिकाना च युक्तित।
न स्थाने योजकत्व चेन्न तदाज्ञानगर्भता ॥३८॥
गीतार्थस्यैव वैराग्य ज्ञानगर्भं तत स्थित।
उपचारादगीतस्याप्यमीष्ट तस्य निष्ठया ॥३९॥

(अध्यात्मसार)

उत्सर्ग मार्ग मे, अपवाद मार्ग मे, व्यवहार माग मे, निश्चय मार्ग मे, ज्ञान नय मे और क्रिया नय मे यदि कदाग्रह हो तो समझना कि उसे ज्ञानगर्भित वैराग्य नही है। स्वागमो मे अन्यागमो के अर्थो को जानना—जैसे परार्ध की सख्या मे अन्य सख्या का समावेश होता है तद्वत् ऐसा समझना। स्वागमो का ज्ञान प्राप्त करके भी अबुधपन रहा तो समझना कि ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त नही हुआ है। अपने अपने स्वार्थ मे सब नय सत्य है। सार्थ सत्य ऐसे नयो मे पर नयो की अपेक्षा से तो निष्फल ही है, जानते हुए भी यदि मध्यस्थ्य नही आया तो समझना कि ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त नही हुआ है। आगमिक अर्थ आज्ञा द्वारा और युक्ति द्वारा सिद्ध हो उनका युक्ति से स्थान मे सम्बध लगाना न आया तो समझना कि ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त नहीं हुआ है। गीतार्थ को ही ज्ञानगर्भित वैराग्य होता

है। परन्तु अज्ञानी को ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं होता है, फि
भी अगीतार्थ को गीतार्थ की निश्रा से ज्ञानगर्भित वैराग्य क
जाता है। गीतार्थ को ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त होता है; औ
उसमें अध्यात्मज्ञान स्थिर रहता है। अध्यात्म के बल
सम्यक्त्ववंत तो संसार के सम्पूर्ण बाह्य भावों से अलग रह
है; इसके लिए एक कहावत प्रचलित है कि—

समकितवन्ता जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
पण अंतरथी न्यारा रहे जेम धाव खेलावे बाल ।।१।।

सम्यक्त्ववंत जीव गृहस्थावस्था में रहकर कुटुम्ब क
पालन करता है, परन्तु अंतर से अलग रहता है। जैसे धा
माता दूसरे के बालक को दूध पिलाती है - खिलाती है; पर
उसे अपना नही मानती। वैसे सम्यक्त्ववंत गृहस्थ भी अंत
से अलग रहकर सांसारिक कार्य करता है। अंतर से अल
रहकर सांसारिक कार्य करना यह अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति
बिना सम्भव नही हो सकता। अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के बि
अतर से त्यागदशा नही आ सकती और अंतर से त्यागद
प्राप्त हुए बिना बाह्य की त्यागदशा भी सार्थक नहीं हो सकती
अध्यात्मसार में नीचे के श्लोक में जिस दशा का वर्णन है, व
अध्यात्मज्ञान बिना नही हो सकता।

सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते।
कोऽपि पारजनो न स्याद्यच्छन् परजनानपि ।।२५।।
अतएव महापुण्यविपाकोपहितश्रिया।
गर्भादारभ्य वैराग्यं नोत्तमानां विहन्यते ।।२६।।
दारुयन्त्रस्य पाञ्चाली-नृत्यतुल्याः प्रवृत्तयः।
योगिनो नैव बाधायै ज्ञानिनो लोकवर्तिनः ।।२७।।

(अध्यात्मसार)

कोई, विषयो को बाह्य से सेवन नही करता वरन् अतर से सेवन करता है, और कोई अध्यात्मपरिणतिवाला जीव बाह्य से भोगो का सेवन करते हुए भी अतर से सेवन नही करता। परव्यक्ति को (जड को) देते हुए भी कोई आत्मा पर का दास नही हो सकता, वैसे गृहस्थावस्था मे रहे तीर्थंकरादि जीव, भोगावली कर्मों के उदय से शरीर को आहारादि परवस्तु का दान देते हैं जिससे वे पर जड वस्तु के दास नही हो सकते, तीर्थंकर गृहस्थावास मे गर्भ से लेकर तीर्थंकर पदवी आदि को भोगते हैं फिर भी वे अतर से अलग रह सकते है। लकडी के यत्र की पुतलियो की तरह लोक मे रहने वाले, ज्ञानयोगियो की प्रवृत्तिया होती है। वे योगी को बधन के लिए नही होती। योगी प्रारब्ध कर्मो की प्रवृत्तियो मे आसक्तभाव धारण नही करता। वह अपने मन मे मैं करता हू, मैं भोगता हू, ऐसा अहकार भाव नही रखता। इसलिए वह बाह्य जगत् के साथ ममत्व के परिणामरूप बधन से नही बधता और ममत्व की कल्पना बिना वह अपनी आत्मा को बधन मे नही डालता। अपनी आत्मा किस दशा मे कार्य करती है उसकी अध्यात्मज्ञानी को स्पष्ट जानकारी रहती है, जिससे वह अपनी उच्चदशा का मार्ग अपने हाथ मे खुला रखता है और उसमे स्वय प्रवृत्ति करता रहता है। गृहस्थाश्रम मे रहे और चक्रवर्ति पदवी को भोगते ऐसे तीर्थंकरो की वैराग्यदशा देखते, वे बाह्य के बनिस्बत अतर से बहुत अलग मालूम पडते हैं। उनकी ऐसी दशा का असली कारण वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। "जीव का शिव" बना देना यह अध्यात्मज्ञान की शक्ति है। अध्यात्मज्ञान से मनुष्य अपनी आत्मा को दिव्यकार मे बदल देता है।

इस जगत् मे अध्यात्मज्ञान की परिणति बिना शाति का

मार्ग ढूंढ़ने में आवे तो कभी, असली शांति का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। अपनी आत्मा को पहिचानो, आत्मा की ओर लक्ष रखो, अपनी आत्मा क्या कहती है वह सुनो अपनी आत्मा कैसी है उस बारे में बहुत गहरे उतर कर विचार करो गुरुगम लेकर अपनी आत्मा की वास्तविक शांति का रस चखो, पश्चात् तुम अध्यात्मज्ञान की बारंबार स्तुति करोगे। मोह के जोर से और अज्ञान से जो जानते हो उसमें भूल करते हो और अंधकार में प्रवेश करते हो, परन्तु मोह की प्रवृत्तियों को हटाकर जरा अध्यात्म के प्रकाश में आओ; इससे सत्य का अपने आप निर्णय कर सकोगे। मनुष्य सुख के स्वरूप को समझे विना प्रवृत्ति मार्ग के राही बनकर ऐंजिन की तरह रात-दिन-मन, वाणी और काया को संतप्त कर दुःख खड़ा करता हैं। जिसे सुख मिलता है. जिसमें सुख प्रकट होता है. जिसके द्वारा सुख प्रकट हाता है, उसका पूरी तरह विचार नहीं करना और गाडरिया प्रवाह की तरह बाह्य पदार्थो की प्राप्ति मे गद्धावैतरू कर कर सुख प्राप्त करना है, और सुख मिलता नहीं फिर भी उसीमें सुख के लिए दौड़ता है; ऐसा करने से असली शांति, वास्तविक आनंद, कहां से मिले ? चारों खण्ड के मनुष्यों की तरफ दृष्टि डालो; धनवान और गरीब पर दृष्टि डालो; हमेशा कौन वास्तविक रूप में सुखी है इसका विचार करो। "जैसा पिंडे वैसा ब्रह्मांडे" जैसे तुमको बाह्य से क्षणिक सुख मिलता है वैसा सारी दुनिया के जीवो को बाह्य पदार्थों से क्षणिक सुख मिलता है, ऐसा निश्चय रूप से मानना। तुम्हारे महज सुख में विघ्न करने वाले मोह और अज्ञान है। मोह और अज्ञान जहां तक है वहाँ तक नित्य सुख प्राप्ति में वे विघ्न डाले विना रहेंगे नही, ऐसा निश्चित मानकर अज्ञान मोह आदि

दोषों से बचाने वाले अध्यात्मज्ञान का सग करो। अध्यात्मज्ञान की परिणति का बल प्रति दिन बढता जाता है और वह नित्य-सुख का विश्वास दिलाकर—आत्मा को अपने धर्म की दृढ प्रतीति कराकर अपना कर्तव्य पूरा करता है, जिससे आत्मा अपना परमात्मत्व प्रकट कर सकता है। अध्यात्मज्ञान और योगज्ञान से परमात्म दशा प्राप्त होती है।

अध्यात्मज्ञान से योगज्ञानमार्ग प्राप्त होता है। योगमार्ग मे दृढ-स्थिर रहने के लिए अध्यात्मज्ञान चाहिए। अध्यात्म-ज्ञान विना वाले हठयोगी मोह के मार्ग मे चढ जाते है, और उनके हृदय से वासना के सूक्ष्म बीज नष्ट नही होते। अध्यात्म-ज्ञान विना यम, नियम, तप, जप आदि हठयोग से आत्मबल वढेगा, परन्तु उनका दुरुपयोग हो जायगा। तामली तापस हठयोगी था। श्राप देनेवाले योगियो के चरित्र पढते है तो प्राय वे हठयोगी मालूम होते है। कामण, डुमण, मारण, मोहन, उच्चाटन और स्तम्भन आदि मत्र प्रयोग करने वाले अधिकाश मे प्राय विना अध्यात्मज्ञान वाले होते हैं। अध्यात्म-ज्ञान जो मोक्षमार्ग का राजमार्ग है और अध्यात्मज्ञान विना वाला अकेला हठयोग तो पहाड के पास की गहरी खोह के समान है। (उस पर चढते समय पैर फिसल जाय तो खोह मे गिर जाता है)

असली जो योगमार्ग है उसका भेद, वास्तव मे अध्यात्म-ज्ञान से स्पष्ट होता है। अध्यात्मज्ञान के पश्चात् योगमार्ग का अवलवन करने की जरूरत है। योगमार्ग है वह वास्तव मे चारित्रमार्ग है। जैन शास्त्रो मे योगमार्ग के असख्य भेद वताये हैं। श्रावक और साधु के आचार ये योगमार्ग है। साधु धर्म की क्रियाए और श्रावक धर्म की क्रियाए ये योग के मार्ग हैं।

मन, वाणी और काया का वल विकसित कर उसके द्वारा मोक्ष की आराधना करना यह योग का मूल भाव है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए योगवल की आवश्यकता स्वीकार की गई है। वज्रऋषभनाराच संघयण विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; उसमें भी मुख्यतः योग की महिमा समझना। हठयोग, मंत्रयोग, भक्तियोग, और लययोग आदि योग के वहुत भेद हैं, उनका विशेप वर्णन अस्मदीय योगदीपक नामक ग्रंथ में पढ़ना। हठयोग के सम्बन्ध में श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि, श्री जिनदत्तसूरि, आचार्यो ने वहुतसा विवेचन किया है। जैनों में हठयोग की प्रक्रिया भी पूर्व से चली आई है। उपधान की क्रियाएं और योगोद्वहन की क्रियाओं में तथा प्रतिष्ठा आदि की क्रियाओं में हठयोग की वहुत सी क्रियाएं अलग अलग रूप में दिखाई देती हैं। हठयोग की क्रियाओं को पूर्व के आचार्य सावते थे। सं० १७३७ की साल में विद्यमान और महासमर्थ विद्वान हेमलघुक्रिया, कल्पसूत्र सुवोधिका टीका और लोकप्रकाश आदि अनेक ग्रंथ के कर्त्ता श्री विनयविजयजी उपाध्याय भी हठयोग सम्वंधी गहरा ज्ञान रखते थे ऐसा निश्चित है, वे निम्न प्रकार हठयोग सम्वंधी पद का गान करते है।

पद पच्चीसवां (राग आशावरी)

साधु भाई सो हे जैन का रागी,
जाकी सुरत मूल धुन लागी ॥ साधु ॥टेक॥

सो साधु अष्ट करमसु झगड़े, शून बांधे धर्मशाला;
सोऽहं शब्दका धागा सांधे, जपे अजपा माला ॥साधु॥१॥
गंगा यमुना मध्य सरसती, अधर बहे जल धारा;
करीय स्नान मगन हुइ बैठे, तोड्या कर्मदल भारा ॥साधु॥२॥

आप अभ्यतर ज्योति विराजे, वकनाल ग्रहे मूला,
पश्चिम दिसाकी खडकी खोलो, तो बाजे अनहद तूरा ।।साधु।।३।।
पचभूतका भरम मिटाया, छठा माहि समाया,
चिनयप्रभुसु ज्योति मिली जब, फिर ससार न आया ।।साधु।।४।।

पद पहेलु (राग भैरव)

योगानन्द आदर कर सतो, अरुण द्युतिलय लावो रे ।।यो।।टेक।।
अन्तर षट्चक्र शोधन करके, वकनाल करभावो ।।यो।।१।।
चद्रसूरज मारग जुग तजकर, सुषमन परवाहु जानो,
कुम्भक रेचक पूरक भावे प्रत्याहार प्रमाणो ।।यो।।२।।
धारणा ध्यान समाधि सप्तम श्वास रोधकर तानो,
अनुपम अनहद धुनी अनुयोगे सोऽह सोऽह गानो ।।यो।।३।।
सोऽह सोऽह रटना रटता नवनिधि सयम भायो,
ज्ञानानन्द परमातम रोचि, देखत हरख लहायो ।।यो।।४।।

पद चौथु (राग भैरव)

गगनमडल गत परम अरुण चिभायोरे ।।गगन।।टेक।।
चद कहु तो चद न निरखु, तरणि पण न जणायोरे,
तेल शिखा बिन दीप न निरखु, जगमग रुचि सुखदायोरे ।गगन १।
घन समीर पर मुख उपाधि, रहित रुचि दरसायोरे,
सब जग व्यापी पाचहि जाते, पण नही भाव रमायोरे ।गगन २।
पडित योगी सघले थाके, निज हठपखलपटायोरे,
आपहि निरखे आप ही जाने, सहज समाधि जगायोरे ।गगन ३।
तब घर-घर की भरम ना मेटी, सहज रूप परखायोरे,
निधि सयम ज्ञानानद योगी, ज्योति निरख हरखायोरे ।गगन ४।

श्रीमद् विनयविजयजी के पच्चीसवें पद से और ज्ञानानंद के पहले और चौथे पद से, जैन शास्त्रों में योग की प्रक्रियायें कितनी अधिक सरल हैं यह पाठक समझ सकेंगे। श्री विनयविजयोपाध्याय तो यहां तक कहते हैं कि, हे साधुओ ! **वही जैन धर्म का प्रेमी है जिसका ध्यान वास्तव में मूलद्वार पर लगा है।** आधारचक्र को मूलचक्र कहा गया है। मूलद्वार की ओर ध्यान रखने से चित्त की मलिनता दूर होती है। ऐसा साधु, योग की दशा से आत्मा को परमात्मा प्रकट करने के लिए, अष्टकर्म और उसकी एक सौ अट्ठावन प्रवृत्तियों के साथ युद्ध करता है और शून्य धर्मशाला बांधता है। शून्य धर्मशाला का भाव यह है कि, जिस दशा में रागद्वेष के विकल्प-संकल्प का अभाव हो; अर्थात् रागद्वेष के विकल्प संकल्प से शून्य ऐसे चित्त को शून्य धर्मशाला की उपमा, योग की शैली में दी जाती है। निर्विकल्पदशा को ही शून्य धर्मशाला समझना। शून्य धर्मशाला बांधने का उपदेश देकर यह बताया गया है कि-योगी रागद्वेष से शून्य चित्त द्वारा योग के मार्ग में आगे बढ़ सकता है और वह संसार के मोहक पदार्थों में लिप्त नहीं होता। मन से रागद्वेष दूर कर सच्चा साधुयोगी, सोऽहं शब्द का डोरा बांधता है। योगी की ऐसी धागा बांधने की रीति होती है। सः यानी असंख्यात प्रदेश में सत्ता से रहा हुआ परमात्मपन ही मैं हूं; उसके बिना बाकी के सांसारिक पर्यायोरूप में कभी अस्ति भाव से नहीं हूं ! सः यानी परमात्मा ही, अहं यानी मैं हूं—मैं स्वयं परमात्मा हूं। मेरे में सत्ता से परमात्मपन रहा हुआ है और वह व्यक्त हो सके वैसा है, इसलिए सोऽहं (परमात्मा) हूं। सोऽहं अर्थात् मैं; वह सत्ता से रहे परमात्मभाव से अभिन्न हूं, ऐसा कहने से बाकी का शरीर, धन आदि सब मैं नहीं, ऐसा स्पष्ट अर्थ

प्रतीत होता है। सोऽहं शब्द का इस प्रकार अर्थ समझकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा का ध्यान करना। द्रव्य से आत्मा असख्य प्रदेशरूप नित्य है और ज्ञानादि पर्याय की अपेक्षा आत्मा अनित्य है। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य ऐमा स यानी वह आत्मा ही अह यानी मैं हू उसके बिना अन्य मैं नही हू। द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुवरूप और पर्याय नय की अपेक्षा से उत्पाद और व्ययरूप ऐसा आत्मारूप मैं हू। इस सोऽहं शब्द का अर्थ स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से असत् ऐमा आत्मा वह मैं हू। ऐसा सोह शब्द का अर्थ है। द्रव्य की अपेक्षा से व्याप्त और ज्ञानादि पर्याय की अपेक्षा से व्यापक यानी विभु ऐमा आत्मारूप मैं परमात्मा हू, ऐसा सोह शब्द का अर्थ है। द्रव्य की अपेक्षा से गुण और गुण से अभिन्न तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथचित् भिन्न ऐसा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यमय मैं आत्मा हू, ऐसा सोह शब्द का अर्थ है। केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा क्षायिक चारित्र आदि जिसके गुण हैं—ऐसा परमात्मा वह मैं हू, ऐसा सोह शब्द का अर्थ है। उपर्युक्त सोह शब्दवाच्य मेरा आत्मा ही मैं हूँ, इसके बिना बाकी के जडधर्मों मे मेरापन नही है ऐसा दृढ निश्चय कर साधुयोगी सोह शब्द का टोरा साधता है, और उसका अजपाजाप जपना है। जो जाप वाणी से नही जपना पडे और स्वाभाविक रीति मे श्वासोश्वास से सोह तरीके उठना है, वह जप्या बिना का जाप होता है। इसलिए उसे अजपाजाप कहा है। अजपाजाप की विधि गुरुगम से जानना। फोनोग्राफ की तरह सुरता को वहा ठहराये बिना अजपाजाप होना है, वह

कोई आत्मा की स्थिरता के लिए नही होता। अजपाजाप के साथ सुरता का सम्बंध रखा जाय तो तीन चार माह में योगी, मन की दशा को बदल डालता है और दिव्य प्रदेश में अपने मन को ले जाता है, तथा अनेक विकल्प संकल्पों को रोकने में समर्थ होता है। अजपाजाप से साधुयोगी शांति प्राप्त करता है और मन को अपने वश में रखने में समर्थ होता है, तथा संकल्प की सिद्धि सन्मुख गमन करता है। साधुयोगी अजपा-जाप की इस तरह जपमाला गिने और दूसरा क्या करे वह बताते है। बांई नासिका को गंगा कहते है और दाहिनी नासिका को यमुना कहते है। इड़ा और पिंगला ये दो नासिकाएं साथ चलती हैं उसे सुषुम्णा कहते हैं और योग की परिभाषा में उसे सरस्वती कहते है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा के ऊपर जलधारा बहती है। कोई उसे अमृतधारा कहते हैं। खेचरी मुद्रा करने वाला अमृत बिंदुओं को ग्रहण करता है। बांई और दाहिनी नासिका का वायु तथा सुषुम्णा का रोध होने पर साधुयोगी ब्रह्मरन्ध्र मे प्रवेश करता है, अर्थात् वह परमात्मज्ञान मे प्रवेश करता है। और वहां समतारूप अमृत-धारा में स्नान कर मग्न होता है। वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में स्थिरता होने पर आनन्दामृतधारा का अनुभव होता है। आत्मबंधुओ ! आत्मा के शुद्ध गुणों में से एक गुण में लीन हो जाओ ! अर्थात् अपनी आत्मा के असंख्य प्रदेश वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में है, वही आत्मा मैं हूं, ऐसे उपयोग में घंटों तक स्थिर हो लीन हो जाओ ! यानी ""**"अधर बहे जलधारा"**
इसका अनुभव तुम स्वय कर सकोगे। इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ी से प्राणवायु का रोध होता है और ब्रह्मरन्ध्र में समाधि लगती है तब, अमृतधारा का अनुभव होता है।

आत्मा के अतर मे ज्योति होती है। वकनाल से ब्रह्मरन्ध्र मे गमन करने का मार्ग साफ हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र मे स्थिरता करने के लिए वकनाल के मूल आधारचक्र से चढा जाता है। आधारचक्र से वरोड की हड्डियो के मध्यभाग वा पश्चिम दिशा की खिडकी वा मेरुदण्ड के मध्यभाग मे होकर प्राणवायु ऊपर ब्रह्मरन्ध्र मे गमन करती है। मेरुदण्ड के आद्य मे आधारचक्र है वहा से आगे के पाच चक्रो का मार्ग खुला हो जाता है। आधारचक्र के पास और स्वाधिष्टानचक्र के पास कु डली है। कु डली का उत्थान होने पर मेरुदण्ड मे प्राणवायु का प्रवेश होता है और मेरुदण्ड मे प्राणवायु का प्रवेश होना है तव अपने को कुछ खवर पडती है और अनहद ध्वनि सुनाई देती है। केवल कु भक प्राणायाम से और केवल कु भक भाव प्राणायाम से षट्चक्र भेदा जाता है और ब्रह्मदण्ड वा मेरुदण्ड पर्वत मे प्राणवायु का प्रवेश होता है। केवल कु भक या प्राणायाम से और केवल कु भकभाव प्राणायाम से मायारूप कु डली अपना स्थान छोड देती है और ब्रह्ममार्ग मे, आगे गमन करने मे रोध पैदा नही करती। केवल कु भकभाव प्राणायाम से आत्मा का अमृतरूप मायारूप कु डली भक्षण नही करती। फिर आत्मा का भावामृत का आत्मा ही भोक्ता बनता है और इससे स्वय परम प्रसन्न होता है। आत्मा की परम प्रसन्नता की असर, वाणी-मुख और आख द्वारा बाहर भी दिखाई देती है। श्रीमद् विनयविजयोपाध्याय ने इस दशा का वास्तव मे अनुभव-अमुक अश मे लिया हो ऐसा समझा जाता है। पश्चिम दिशा मे मेरुदण्ड द्वारा प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र मे सचार होते ही, हठ समाधि की प्राप्ति होती है। हठयोग शास्त्रो की अतिम दशा का साध्यबिंदु हठसमाधि है। क्षयोपशमभाव की

हठसमाधि अमुक अपेक्षा से अंतिमदशा का साध्यबिंदु स्थिरता-लीनता होने पर कही जाती है। क्षयोपशमभाव सदाकाल एकसा नहीं रहता। क्षयोपशमभाव की समाधि के लिए भी ऐसा ही समझना। हठसमाधि के साथ क्षयोपशमभाव की समाधि का सम्बंध रहता है, क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं होता, **द्रव्य के बिना भाव नहीं होता**। प्राणवायु की स्थिरता के साथ क्षयोपशमभाव की समाधि का भी ब्रह्मरन्ध्र में आविर्भाव होता है। ब्रह्मरन्ध्र में सुरता से स्थिरता करने से थोड़े दिनों में समाधि की झांकी होती है। मन की जब रागद्वेष के विकल्प संकल्प रहित सच्ची लय होती है वहां समाधिभाव प्रकट होता है। क्षयोपशमभाव की समाधि का आधार वास्तव में कारण सामग्री पर है। **शरीर स्वास्थ्य, मनः स्वास्थ्य, योग्य आहार, योग्य विहार, योग्य स्थल आदि कारणसामग्री से समाधि की प्राप्ति होती है।** समाधिकाल की उत्थान दशा में जगत् के साथ सम्बंध रहता है और समाधिकाल में तो ध्येय बिना अन्य वस्तुओं के साथ उपयोग भाव से सम्बंध प्रायः नहीं रहता; हठयोग के साथ राजयोग की समाधि का क्षयोपशमभाव में सम्बंध होता है ऐसा हमको आभास होता है। समाधिकाल में पंचभूत से अपना आत्मा छुटा होता है ऐसा भिन्न बोध होता है। ऐसे भेदज्ञान से आत्मा की श्रद्धा प्रकट होती है और आत्मा की श्रद्धा प्रकट होने से आत्मा के गुण प्राप्त करने की सच्ची लगन पैदा होती है और पश्चात् यह चोलमजीठ का लगा रंग कभी नही हटता। ऐसी दशा में रहनेवाला साधु अपने गुणों की सुरता में लय लगाता है और शरीर मे रहते हुए, शरीर-वाणी और मन में परिणमता, आत्मा में अपने शुद्ध धर्म से परिणाम प्राप्त करता है। ऐसी परमानन्ददशा में

विचरनेवाले-साधु योगियो से जो देश पवित्र होता है, वह भूमि भी तीर्थरूप गिनी जाती है। आत्मा की समाधि प्राप्त करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है और उससे इस ससार मे पुन नही आना पडता। जहाँ जहाँ मन की स्थिरता है वहा वहा समाधि है। ब्रह्मरन्ध्र मे समाधि होती है और उससे मोह की वासनाओ से आत्मा मुक्त होकर अन्त मे मोक्ष मे जाती है।

ज्ञानानन्दयोगी, योगसमाधि मे बहुत गहरे उतर कर गभीरता से समाधि का साक्षात स्वरूप बताते हुए गाते है। योगी का योग मे चित्त लगाना, योगी को त्रिकुटी मे ध्यान करना, उसे इडा, पिंगला और सरस्वती नाडी का ज्ञान करना, रेचक, पूरक और कुम्भकरूप प्राणायाम का सेवन करना, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि के अगो का शास्त्रो के आधार पर गुरुगमपूर्वक ज्ञान करना और सोह शब्द का अर्थ के साथ सुरता लगाकर समाधि प्राप्त करना यह समाधि, ऐसा ज्ञानानन्द अपने अनुभव मे कहते हैं। गगन मडल मे रहे ब्रह्म स्थान मे सूर्य की काति के समान प्रकाश दिखाई देता है। इस प्रकाश को, चद्र कहे तो चद्र नही, परन्तु वह चद्र के प्रकाश से भी अलग तरह का है, तथा सूर्य के प्रकाश से भी वह अलग तरह का है। उसे दीपक कहे तो वह दीपक नही, क्योकि तेल और शिखा सहित दीपक होता है और ब्रह्मरन्ध्र मे होता प्रकाश तो उससे अलग प्रकार का है। वहा तो जगमग-जगमग जनहद ज्योति चमक रही है। बादल और वायु बिना शून्य मडल मे (गगन मडल मे) ज्योति झलक रही है और वह दीखती है, इस प्रकार ज्ञानानन्द योगी पुकार कर ऐसा बताते है कि, पाच तत्व सारे जगत् मे व्याप्त है, उनसे भिन्न

आत्मतत्त्व की ज्योति झलक रही है। पंडित और हठवादी उनके सामने थक जाते है, वे अपने पक्ष में लिपट गये हैं। वाह्य के पंडितों का अक्षरातीत, तर्कातीत ऐसी आत्मज्योति के सामने कुछ नहीं चल सकता। अर्थात् वे आत्मा की ज्योति को प्राप्त करने के लिए शब्द वा तर्क शास्त्रों से समर्थ नहीं होते। गगन मंडल में आत्मा की निर्मल ज्योति को आत्मा स्वयं ही देखता है और स्वयं जानता है इससे वह दूसरों को (इस दशा में नही आने वाले) समझा नही सकता, तथा उन्हें प्रतीति भी नहीं होती। जिसे समाधि में आत्मज्योति का दर्शन होता है वही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है और उससे होने वाला अनंतगुणा सहजानन्द भोग सकता है। आत्मा की समाधि में आत्मा की ज्योति का दर्शन होने पर घर-घर की आशा-भ्रमणा दूर हो जाती है और सिर्फ अपनी आत्मा में दृढ विश्वास रहता है। वाहर सर्व वासनाओं के बंधन अपने आप छूट जाते है। हिमालय के वर्फ के ढेर को अग्नि से पिघलाया नही जा सकता, परन्तु वैशाख माह में सूर्य की अत्यन्त गर्मी से वह जल्दी पिघल जाता है, उसी तरह आत्मा के असंख्य प्रदेशों से सम्बन्धित मोह की वासनाओं, को व्याकरण, न्याय वा अन्य धर्मशास्त्रों के अभ्यास और स्वाध्यायमात्र से नहीं हटाया जा सकता, परन्तु समाधि द्वारा—आत्मा की ज्योति के दर्शन से और आत्म समाधि में वारंवार लीन रहने से, मोह, अज्ञान आदि कर्म बंधनों को शीघ्र क्षय किया जा सकता है और अपनी आत्मा की मुक्त दशा का आनन्द—वास्तव में देह में होते हुए भी मुक्त की तरह भोगा जा सकता है। ज्ञानानन्द योगी कहते है कि, समाधि में आत्म ज्योति का दर्शन करके मैं तो हर्षित हुआ हूं।

इस तरह बहुत से जैन योगियो ने अध्यात्मज्ञान से योग मार्ग प्राप्त कर आत्मज्योति के दर्शन किये हैं और आत्मा के सहजानन्द के भोक्ता हुए ह। अध्यात्मज्ञान से योगमार्ग में प्रवेश करने वाले कभी मोह के सम्बन्धो मे नहीं फँसते, और प्राप्त हुई भूमिका स्थिर कर आगे बढने मे समर्थ होते है। योगमार्ग से भ्रष्ट हुआ मनुष्य, पुन अन्य भव मे योगमार्ग को प्राप्त करता है, क्योंकि उसके हृदय मे पडे योग के सस्कार फिर उसे योग मार्ग पर ले आते हैं। इस सम्बन्ध मे एक कहावत है कि—

दोहा

भक्तबीज पलटे नहि, जावे जुग अनन्त।
उचनीच घर अवतरे, अन्त सन्त को सन्त ॥ १ ॥

भगवद्गीता के योग अध्याय मे कहा है कि, योगभ्रष्ट स्वर्ग मे जाता है और वहा से ऐसे पवित्र ज्ञानी, लक्ष्मीवन्त गृहस्थो के घर उत्पन्न होते है और अन्त मे पुनः योगमार्ग को प्राप्त कर—गुरु और सामग्री प्राप्त कर सब बधनो से मुक्त होते है। आर्यावर्त मे पूर्व मे योगमार्ग का हरएक जाति, वर्ण अच्छी तरह अवलबन करती थी। वर्तमान मे योगमार्ग के अवलबन के विना आर्यावर्त की हुई अधोगति का अनुभव होता है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर योग मार्ग मे आगे बढा जा सकता है।

अध्यात्मज्ञान से योगपर्वत की ब्रह्मगुफा मे सहज ही प्रवेश होना है, इसलिए योगियो को अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति पूर्वक योगमार्ग मे प्रवेश करना ऐसा हम सूचित करते हैं। चाहे जैसे रागद्वेष के प्रसगो मे अध्यात्मज्ञानी योगी अपने विचारो मे अडग और शुद्धाध्यवसा[illegible] [illegible]ना है।

जैसे-जैसे शुद्धाध्यवसाय की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे अशुभ कर्म की निर्जरा होती है और शुभकर्म का वंध होता है। अध्यात्म-ज्ञान से, मैं आत्मा हूं ऐसा अनुभव होते ही चारित्र योगमार्ग में प्रवेश होता है। चारित्रयोग की उपासना करते अध्यात्म-ज्ञान की परिपक्वता होती है। महामुनि बताते हैं कि, "बाह्य और अभ्यंतर चारित्र प्राप्त होने पर शुद्धात्मज्ञान का रस प्रकट होता है। सदाचार के पालन से अध्यात्मज्ञान का शुद्ध भाव प्रकट होता है।"

आगमों के श्रवण, वाचन और मनन से सत्याध्यात्मज्ञान प्रकट होता है। पंच महाव्रतधारी मुनियों के हृदय में वास्तव में ऐसा उत्तम अध्यात्मृतरस होता है, और इससे वे जगत् के जीवों के उद्धार के लिए समर्थ बनते हैं, तथा परमात्मपद पाने के लिए समर्थ होते है। गृहस्थ तो मुनिराजों की सेवा से अपने अधिकार के अनुसार-अमुकांश मे अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर सकते है। व्यवहारनय और निश्चयनय को जो जानते हैं वे अध्यात्म-ज्ञान की वास्तविक दशा प्राप्त कर सकते है। अध्यात्मज्ञान से आत्मा की उज्ज्वलता बढ़ती है। दूसरे दर्शन वाले, यानी वेदान्तज्ञानी आदि भी अध्यात्मज्ञान की महत्ता बताते है।

आत्मानं रथिनं विद्धि-शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि-मनः प्रग्रहमेव च ॥कठो०॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्युयाहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवेत्युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा॥
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥कठो०॥

भावार्थ—शरीर रथ है, और उसमे बैठने वाला रथी है। बुद्धि को सारथि समझो और मन को लगाम समझो। इन्द्रिय अश्व है और बाह्य पौद्गलिक विषय प्रदेश हैं। बुद्धिमान, इन्द्रिय और मनयुक्त आत्मा को भोक्ता कहते है। जैसे दुष्ट घोडे सारथि के आधीन नही होते, वैसे जो मनुष्य ज्ञानी नही है तथा एकाग्र चित्तवृत्ति वाला नही है, वह इन्द्रियो को वश मे नही कर सकता। जैसे उत्तम अश्व अपने सारथि के आधीन रहते हैं उसी तरह जो ज्ञानी हैं और ध्येय मे मन लगाते है उनके आधीन इन्द्रियाँ रहती हैं।

अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययम् तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव,
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥कठो०॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे च तदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यत ॥ईशा०॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥ (वेदान्त शास्त्र)

शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध और विनाशरहित-नित्य अनादि अनत अहकार से पर, ध्रुव ऐसे आत्मा का अनुभव करने वाला मनुष्य, मृत्यु के मुख से छूटता है। आत्मा चल है और वही आत्मा अचल है। अज्ञानियो से दूर है और ज्ञानियो के पास है। वह सब देहो के अन्तर मे रहती है और बाहर है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा एक शरीर छोडकर अन्य शरीर धारण करती है इसलिए उस अपेक्षा से चल कहलाती है, व्यवहार नय की अपेक्षा से कार्मण शरीर के साथ आत्मा भी एक भव से अन्य भव मे जाती है इसलिए चल कहलाती है। पर्यायार्थिक नय की

अपेक्षा ग्रहण नहीं की जावे और सिर्फ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा ग्रहण करी जावे तो आत्मा अचल है। हरएक वस्तु मूल द्रव्य रूप में अचल है और पर्याय की अपेक्षा चल है। "आत्मा द्रव्यरूप से अचल नहीं मानी जावे तो वह ध्रुव नहीं ठहरती, और ध्रुव के विना आत्मा सत् नहीं ठहर सकती" इस तरह उपनिषद् का अनेकांत दृष्टि से अर्थ ग्रहण किया जाय तो आत्मा में चलत्व और अचलत्व सिद्ध होता है। एकान्तवाद से वेदांती भी इसका अर्थ सम्यग्दृष्टि विना बराबर नही कर सकते। सम्यग्दृष्टि से अनेकान्तार्थ ग्रहण करने वाली वस्तु को सम्यग् जान सकता है। जो मनुष्य सब प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है और सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह ज्ञानी है और वह किसी का तिरस्कार नहीं कर सकता; ऐसा आत्मज्ञानी मुक्त होता है। सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने वाला ज्ञानी, सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है ऐसा समझना, तथा जो अपनी आत्मा के समान सब प्राणियों को देखता है वह किसी भी प्राणी का तिरस्कार करने को प्रेरित नही होता और वह किसी प्राणी से तिरस्कृत नही होता। सब प्राणियों में भिन्न भिन्न आत्मा है। जैसे जैसे अपनी आत्मा को सुख दुख होता है वैसे अन्य प्राणियों की आत्मा को भी सुख दुख होता हैं, ऐसा अध्यात्मज्ञान से जानने मे आता है तब, सब प्राणियों पर दया की जा सकती है;—सब जीवों की यतना की जा सकती है। ऐसी उत्तम दशा प्रकट होने पर अपना अशुभ चिंतन करने वाले पर भी वैरभाव प्रकट नही होता।

अन्य दर्शन वाले भी अपने मत के अनुसार अध्यात्मज्ञान को मान देते है। जैन स्याद्वाद की अपेक्षा से अध्यात्मज्ञान

निर्दयः कामचाण्डालः, पण्डितानपि पीडयेत् ।
यदि नाध्यात्मशास्त्रार्थम्, बोधयोधकृपा भवेत् ॥ १५ ॥
विषवल्लिसमां तृष्णां, वर्धमानां मनोवने ।
अध्यात्मशास्त्रदात्रेण छिन्दन्ति परमर्षयः ॥ १६ ॥
वने वेश्म धनं दौस्थ्ये, तेजोध्वान्ते जलं मरौ ।
दुरापमाप्यते धन्यैः, कलावध्यात्मवाङ्मयम् ॥ १७ ॥
वेदान्यशास्त्रवित्क्लेशं, रसमध्यात्मशास्त्रविद् ।
भाग्यभृद्भोगमाप्नोति, वहते चन्दनं खरः ॥ १८ ॥
भुजास्फालनहस्तास्य, विकाराभिनयाः परे ।
अध्यात्मशास्त्रविज्ञास्तु वदन्त्यविकृतेक्षणाः ॥ १९ ॥
अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि—मथितादागमोदधेः ।
भूयांसि गुणरत्नानि, प्राप्यन्ते विबुधैर्न किम् ॥ २० ॥
रसोभोगावधिः कामे, सद्भक्ष्येभोजनावधिः ।
अध्यात्मशास्त्रसेवाया, रसो निरवधिः पुनः ॥ २१ ॥
कुतर्कग्रन्थसर्वस्व, गर्वज्वरविकारिणी ।
एति दृङ् निर्मलीभाव - मध्यात्मग्रन्थभेषजात् ॥ २२ ॥
धनिनां पुत्रदारादि, यथा संसारवृद्धये ।
तथा पाण्डित्यदृप्तानां, शास्त्रमध्यात्मवर्जितम् ॥ २३ ॥
अध्येतव्यं तदध्यात्म-शास्त्रं भाव्यं पुनः पुनः ।
अनुष्ठेयस्तदर्थश्च देयो योगस्य कस्याचित् ॥ २४ ॥

(अध्यात्मसार)

भावार्थ—कान्ता के अधरामृत के आस्वाद से युवकों को जो सुख मिलता है वह सुख तो अध्यात्मशास्त्र स्वाद से होने वाले सुखरूप समुद्र के सामने एक विन्दु के समान है । अध्यात्मशास्त्रों के वाचन, श्रवण, मनन और परिशीलन से उत्पन्न होने वाले संतोप सुख में मस्त हुए महात्मा, राजा, धनवान

ग्रौर इन्द्र की भी किसी गिनती मे नही गिनते। कोई पगु कल्पवृक्ष के फल की इच्छा से अगुली ऊँची करता है परन्तु वह जैसे व्यर्थ जाती है वैसे मनुष्य अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास किये विना पाडित्य की इच्छा करे तो वह भी व्यर्थ होती है। दभरूपी पर्वत को भेदने के लिये वज्र समान, मैत्रीभावना रूप सागर की वृद्धि करने के लिए चद्र समान, मोहजालरूप वन को जलाने के लिए अग्नि समान,अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्मशास्त्र से उत्पन्न होने वाले अध्यात्मज्ञान को जितनी उपमा दी जाय उतनी कम है। अध्यात्मशास्त्र का स्वराज्य होने पर धर्म का मार्ग स्वस्थ होता है। धम मार्ग मे प्रवतते मोह के सुभटो का प्रावल्य नही चलता और मोहसुभटो द्वारा किए गये उपद्रव भी नष्ट होजाते है। पापरूप चोर तो भाग ही जाते हैं। जिन मनुष्यो के हृदय मे अध्यात्मशास्त्र के परिणाम है,उन्हे कषायविषयावेश क्लेश कदापि नही होते। अध्यात्मशास्त्रो का पाचन श्रवण यह एक अलग वात है, और अध्यात्मशास्त्रो के अनुसार हृदय का अध्यात्मभाव मे परिणमना एक अलग वात है। अध्यात्मशास्त्र पढकर अध्यात्म परिणति वाला हृदय वने तो अध्यात्म की महत्ता का हृदय मे अनुभव हो सकता है। अध्यात्मशास्त्र वास्तव मे हृदय मे अध्यात्म परिणति उत्पन्न करते है और जव हृदय मे अध्यात्म-परिणति प्रकट होती है तव, कषाय और विषयो का आवेग और तत्सम्वधी क्लेश मद होते होते सर्वथा सब तरह के क्लेश दूर हो जाते हैं। कषाय और विषय के आवेशो को टालना हो तो अध्यात्मशास्त्र कहते है कि हमारी उपासना करो और अध्यात्म-विचारो को हृदय मे भर कर हृदय मे वहुत गहरे अध्यात्मशास्त्र के सस्कार डालो।

यदि अध्यात्मशास्त्र के ... द्वा की कृपा

निर्दय कामरूप चांडाल, अवश्य ही पंडितों को भी दुःख देता है और उन्हें अपना दास बना लेता है। अध्यात्मशास्त्र सूर्य के प्रकाश के समान है; वहां अंधकार में उत्पन्न होने वाला काम चांडाल नहीं आ सकता। अध्यात्मशास्त्र से हृदय में उत्पन्न हुई शुद्ध परिणति के बल के आगे काम के विचार नहीं ठहर सकते। मनरूपी वन में वृद्धि पाने वाली तृष्णारूप विष वेल को, महर्षिगण-अध्यात्मशास्त्र रूपी दांतरी से छेद डालते है। तृष्णारूपी विष की वेल का उत्पत्ति स्थान मन है और वह अज्ञान रूपी वायु से पोषित होता है; हरएक प्राणी को अज्ञान अवस्था में अनेक प्रकार की तृष्णा पैदा होती है और वह प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। सागर का अन्त आता है परन्तु तृष्णा का अन्त नहीं आता। तृष्णा संसार प्रवत्तिचक्र की माता है। तृष्णा की विष वेल के फल भी विषैले होते है और उनमें से निकलता रस भी विष की तरह होता है। **जिसके हृदय में तृष्णारूपी विष बेल नहीं है, ऐसे महापुरुष की हृदय की स्वच्छता अलग ही तरह की होती है।** जिसके हृदय में तृष्णारूपी वेल नही है उसे किसी की स्पृहा नहीं होती और उसके सामने कोई, दुनिया का चक्रवर्ती-इन्द्र-चंद्र भी बड़ा नहीं है। मनुष्य का शरीर दुर्बल होता है, काले बाल सफेद होते है परन्तु अज्ञान योग से तृष्णा दूर नहीं होती। सत्ता, पदवी और धन आदि तृष्णाओं का कभी अन्त नहीं आता और तृष्णा का नाश हुए विना संतोष प्राप्त नहीं होता, और संतोष विना सच्चे सुख की आशा रखना व्यर्थ है। गरीब वा धनवान को तृष्णा के विष प्रवाह में बहते कभी सुख की झांकी नहीं होती। तृष्णा का आदर वास्तव मे अज्ञान अवस्था में होता है। अज्ञानी मनुष्य सुख के लालच मे तृष्णा को देवी की तरह

पूजना है और तृष्णा रूपी होली में स्वयं पतंगे की तरह जलकर भस्मीभूत हो जाता है। तृष्णा का नाश कभी भी बाह्य दृष्टि से नहीं होता। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि, तृष्णारूपी विष वेल को काटना हो तो अध्यात्मशास्त्ररूपी दातरी को ग्रहण कर उस तृष्णा वेल को काटो।

वन में घर, दुखी अवस्था में धन, अन्धकार में प्रकाश और मरुदेश में जैसे जल प्राप्त होना दुर्लभ है, वैसे श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि "इस कलिकाल में अध्यात्मशास्त्र की प्राप्ति होना भी दुर्लभ है'।

इस कलियुग में पापप्रवृत्तिमय और पापमय प्रवृत्ति से साध्य होती ऐसी क्षणिक बाह्य उन्नति के लिए दुनिया पापमय प्रवृत्ति वाले शास्त्रों को देखती है, पढ़ती है और उन शास्त्रों की उपासना किया करती है और वैसे पापप्रवृत्तिमय शास्त्रों को प्रकट करने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित करती है। यहां वहां बाह्यप्रवृत्ति का आभास हुआ करता है और उस तरफ लोगों की पांचों इन्द्रियों की और मन की—प्रवृत्ति रात दिन हुआ करती है, ऐसा अनुभव से देखा जाता है। मनुष्य पापमय प्रवृत्तियों के हेतु में उन्नति का मार्ग है ऐसा बाह्य दृष्टि से देखकर पागल की तरह बाह्य प्रवृत्ति मार्ग में दौड़ता रहता है और उसमें रस न होते हुए भी रस मानकर' कुत्ता हड्डी चूसता है उस तरह' भ्रांति में रहता है। जो अपना नहीं उसे अपना मानकर अन्य जीवों के प्राण चूसकर अपनी आत्मा को सान्निपातिक की तरह सुख देने में लगा रहता है। प्रवृत्तिमय शास्त्रों के पढ़ने में लोग आंख गंवाकर चश्मा लगाते हैं, और मन की मगजपच्ची कर मन को यंत्र की तरह चलाया करते हैं। शृंगार-रस

आदि जिसमें है ऐसे अशुभ रस वाले शास्त्रों का अध्ययन कर दुनिया स्वप्न सुख की मोज का अनुभव कर, क्षण में दुःख के श्वास लेता है; फिर भी विष के कीडे की तरह पापमय प्रवृत्ति वाले शास्त्रों में ही सुख ढूंढा करता है। श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि इस कलिकाल में बताए हुए दृष्टांतों की तरह अध्यात्मशास्त्र की दुर्लभता है। अध्यात्मशास्त्रों की प्राप्ति दुर्लभ है, तथा अध्यात्मशास्त्रों की तरफ रुचि होना भी कठिन है। अध्यात्मशास्त्रों को समझाने वाले महापुरुष भी विरले ही हैं। अध्यात्मशास्त्र की प्राप्ति होना यह कोई साधारण वात नही है। **अल्पकाल में मुक्ति में जानेवाली आत्मा को अध्यात्मशास्त्र की प्राप्ति होती है** और उसकी अध्यात्मशास्त्र में श्रद्धा होती है, तथा उसके अनुसार उसका व्यवहार होता है। बाह्यशास्त्रों के वनिस्बत अध्यात्मशास्त्रों की संख्या कम है। वाह्यशास्त्रों से धूमकेतुओं की तरह लोगों का अभ्युदय तथा अस्त होता है। आश्रव की वृद्धि करने वाले शास्त्रों की उत्पत्ति तो सहज हो जाती है और उस तरफ प्रवृत्ति भी सहज ही हो जाती है। अध्यात्मशास्त्र तो तीर्थकररूप हैं और उसकी उत्पत्ति वास्तव में तीर्थकर से होती है और उससे होनेवाला उदय हमेशा कायम रहता है। अध्यात्म शास्त्रों से शांतरस पोषित होता है; शांतरस वास्तव मे सब रसों का राजा है, उसका पीने वाला सचमुच में अमर हो जाता है। जो सुख हमेशा रहता है, ऐसा सुख अध्यात्मशास्त्र के उपासकों को प्राप्त होता है, उनके मन से पाप विचार दूर होने लगते है और हृदयरूप भारत क्षेत्र में, दयारूप गंगा नदी का प्रवाह बहने लगता है जिससे उनकी सच्ची पवित्रता प्राप्त कर स्वयं तीर्थरूप वन जाते है और अपने समागम में आनेवाले को भी तीर्थरूप वना देते है।

चार वेद और अन्य शास्त्रो के जानने वाले बाह्य प्रवृत्ति से क्लेश पाते हैं और आनद रस तो अध्यात्मशास्त्रवेत्ता ही प्राप्त करते हैं। भाग्यशाली तो भोग प्राप्त करता है और गधा तो चदन का भार ही उठाना जानता है। अध्यात्मशास्त्र विना सहजानंद रस की परख नही होती। बाह्य पदार्थों का ज्ञान देने वाले शास्त्रो से सच्चे आनदरस की परख नही होती। बोहत्तर कला के शास्त्रो का अभ्यास करने पर भी अध्यात्मज्ञान विना आनद मिलने वाला नही। सत्यानदरस की दिशा बताने वाले अध्यात्म-शास्त्रो का परिशीलन ही वास्तविक कर्त्तव्य है। होम आदि अनेक कर्म करने मात्र से आत्मा के सच्चे आनद का अनुभव नही होता।

भुजा का आस्फालन तथा हाथ मुह के विकार आदि नाटक-अभिनय सच्चे सुख की दिशा नही देते, तथा हास्यादि चेष्टावाले भोगी पुरुष विकारजन्य आनद को भोगने का प्रयत्न करते है और मुखादि की विकारजन्य चेष्टाए करते है परन्तु अन्त मे वे ठगे जाते हैं और सच्चे सुख से दूर रहते हैं। अध्यात्मशास्त्रवेत्ता तो चक्षु आदि की विकारिक चेष्टा बिना बोलते हैं। भोग की विकार चेष्टाओ मे उन्हें भ्रांति लगती है। अगविकार चेष्टावाला सुख तो क्षण मात्र के लिए होता है और अत मे था भी या नहीं ऐसा हो जाता है। नाटक आदि मे देखने वालो को आनद पहुँचाने की अनेक चेष्टाए होती है, तथापि प्रेक्षकों को और नाटकियाओ को सत्यसुख का अनुभव नही होता। मूढ जीव उनकी विकारिक शृगारिक चेष्टाओ मे मृगजल की तरह सुख की भ्रांति धारण कर मन से दौड़ा करते हैं और अन्त मे अजागलस्तन की तरह निष्फलता ही मिलती है फिर भी हारा जुआरी दुगना खेलता है, उसकी तरह वारवार उसी मे विष्टा के कीडे

पचा रहता है। शृंगारिक रस की चेष्टाओं से सत्यानंद किसी को प्राप्त नहीं हुआ और न होने वाला है, इसलिए अध्यात्म-शास्त्रों का अध्ययन कर सत्यसुख की शोध कर उसमें मस्त होना यही लेखक का वास्तविक मंतव्य है।

काम में जो रस आता है वह सिर्फ भोगते समय मधुर मालूम होता है, जीमते समय तक उत्तम भोजन में रस आता है, परन्तु अध्यात्मशास्त्र के सेवन से उत्पन्न होने वाले आनंदरस की कोई सीमा नहीं है। दुनिया में सब प्रकार के क्षणिक जड़ पदार्थ सच्चा सुख देने में समर्थ नहीं होते। विशेषावश्यक में सांसारिक भावों से सच्चा सुख नहीं रहना उसके बारे में निम्न प्रकार बताया है।

नग्नः प्रेत इवाविष्टः क्वणन्तीमुपगृह्यताम्।
गाढायासित सर्वाङ्गः स सुखी रमते किल॥ १॥
औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा।
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव॥
नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय।
राज्यं स्वहस्तगतदण्डमिवातपत्रम्॥ २॥
भुक्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किम्?।
सुप्रीणिताः प्रणयिन स्वधनैस्ततः किम्?॥
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्?।
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्?॥ ३॥
इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातम्।
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम्॥
अत्यंतनिर्वृतिकरं यदपेतबाधं।
तद्ब्रह्मवाञ्छत जना यदि चेतनास्ति॥ ४॥

(विशेषावश्यक)

इन श्लोको का भावार्थ हृदय मे मनन कर, आचरण किया जाय तो, अध्यात्मशास्त्रो मे बताई गई सत्यसुख की दिशा मे आत्मा का गमन हो—विषय सुख तो, परमार्थ से देखते हुए दु ख ही है।

विसयसुहं दुक्ख चिय, दुक्खपडियारओतिगिच्छव्व।
त सुहमुवयाराओ, न उवयारो विणा सच्चम्॥
(विशेषावश्यक)

वैषयिक सुख तो वस्तुत दु ख ही है, क्योकि वे दु ख के प्रतिकार रूप है, इसलिए दुष्ट अर्स आदि की चिकित्सा की तरह विषय पदार्थों मे सुख का उपचार है और उपचार वास्तव मे सत्य होता नही। औपचारिक विषयसुख वह वस्तुत सुख ह ही नही अर्थात् दु खरूप ही है। अध्यात्मभाव मे रमण करते मुनियो को सत्यसुख इस प्रकार प्राप्त होता है।

निर्जितमद् दनाना, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम्॥ १॥
(विशेषावश्यक)

जिन्होने काम और अहकार को जीता है, और वाणी, काम और मन के विकार रहित हो जिन्होने पर को आशाओ को दूर की है, ऐसे सुविहित मुनियो को शरीर होते हुए भी यहाँ मोक्ष है।

जो ससार मे आनद मानने वाले है वे देह और इद्रियो से दूर रहा आत्मिक सुख देखने तथा अनुभव करने मे समर्थ नही होते। पुण्य से जो सुख होता है उसकी अपेक्षा आत्मा का सहजसुख भिन्न है। इसलिए मुक्ति मे वस्तुत देह और इद्रियो

द्वारा भोगे जाने वाले ऐसे पुण्य के सुख से भिन्न-नित्य और स्वाभाविक सुख को सिद्ध परमात्मा भोगते है। ऊपर के श्लोक से और अनुभव से सिद्ध होता है कि, अध्यात्मशास्त्र के आनंद-रस की सीमा नहीं है। जो अध्यात्मशास्त्र द्वारा आत्मा के अनुभव में गहरे उतर गये है वे अध्यात्मसुख की लहरों का अनुभव करते है। उनको आत्मसुख की प्रतीति होती है, जिससे वे बाह्य ऋद्धि, सत्ता और पदवी वगैरह की उपाधि से मुक्त होकर शरीर में स्थित आत्मा के ध्यान में मस्त रहते है और दुनिया के भावों को मिथ्या समझते हैं। अध्यात्मशास्त्र कहते है कि 'हे दुनिया के मनुष्यों ! तुम हमारे पास आओ; हम तुम्हारे त्रिविध ताप को दूर कर निरवधि सुख में मग्न कर देंगे।" हमारे में श्रद्धा रखो।

श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि, कुतर्कवाले शास्त्रों के सर्वस्व गर्वज्वर से विकार वाली बनी ऐसी दृष्टि, वह वास्तव में अध्यात्मग्रंथरूप औषध के प्रयोग से निर्मल बनती है। व्याकरण और केवल न्यायशास्त्र आदि के अभ्यासी गर्व करते हैं और वे विवादों में क्लेश पाते हैं। अन्य शास्त्रों के अभ्यास से पंडित अभिमान करते हैं और उनकी दृष्टि में राग द्वेष की मलिनता रहती है। सरलभाव और सर्व जीवों के साथ शुद्धप्रेम और सब में आत्मदृष्टि रख - आदि गुणों से, बाह्यशास्त्रों के विद्वान् दूर रहते है और जिससे उनकी दृष्टि में विकार रहता है। बाह्यपदार्थ, भाषा और कुतर्क के अभ्यासी पंडितों की दृष्टि की मलिनता को नाश करने वाले वस्तुतः अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्मशास्त्र कहते है कि, दृष्टि में रही रागद्वेष की मलिनता को हम नाश करने में समर्थ हैं। अहंकार का नाश कर मनुष्यों को अपनी आत्मा की पहिचान कराते हैं,

इसलिए दुनिया के लोगो ! तुम अपनी दृष्टि की निर्मलता प्राप्त करना चाहते हो तो हमारे पास आओ और हमारे मे रहा अपूर्व सौंदर्य देखो। हमारे मे रहे अपूर्व भाव से अपना हृदय तृप्त करो, और फिर देखो कि हममे कितनी महत्ता है ? बडे बडे विद्वान हमारा आश्रय लेते हैं और वे अपनी आत्मा को देखने मे समर्थ हुए हैं। जिनके दोष दूर करने मे इद्र भी समर्थ नही है, ऐसे दुष्ट जीवो को भी हमने मोक्ष प्राप्त कराया है, ऐसा अध्यात्मशास्त्र पुकार-पुकार-कर कहते हैं। सज्जनो ! इससे समझ सकते हो कि अध्यात्मज्ञान का वास्तव मे हृदय मे परिणमन होने से दृष्टि निर्मल होती है।

धनवानो को जैसे पुत्र, स्त्री आदि ससार की वृद्धि के लिए होते हैं, वैसे पाडित्य के अहकार मे लीन विद्वानों को अध्यात्म बिना के शास्त्र ससार की वृद्धि के लिए होते है।" श्रीमद् पूज्य यशोविजयजी उपाध्याय का यह कथन वस्तुत भाषा और तर्क के पडितो के लिए मनन करने लायक है। वास्तव मे विद्या का मद विद्वानो को होता है। गौतमस्वामी जैसे गणधरो को भी पहले विद्या का मद हुआ था। सिद्धसेन दिवाकर को भी पहले विद्या का मद हुआ था। धनवानो को धन का मद होता है, तपस्वियों को तप का मद होता है, क्रियावादियो को क्रिया का मद होता है। "तप का अजीर्ण क्रोध है और विद्या का अजीर्ण अहकार है।" अध्यात्मज्ञान जिसमे नही है ऐसे शास्त्र ससार मे अभिमान की वृद्धि करते हैं और जिससे ससार की वृद्धि होती है। अध्यात्मज्ञान से रहित शास्त्रो के अभ्यास से चर्चा, अह, खडन-मडन, अहकार और कपट कला की वृत्ति प्रकट होती है और जिससे विद्वान अपनी आत्मा को शाति देने योग्य नही रहता। चाहे साधु हो या गृहस्थ हो, परन्तु अध्यात्मज्ञान वाले

शास्त्रों के अभ्यास विना कभी वह मुक्ति की तरफ प्रगति नहीं कर सकता। अध्यात्मशास्त्रों के पठन-पाठन से आत्मा में सद्गुण प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है और दुर्गुणों का नाश करने का प्रयत्न होता है। अध्यात्मशास्त्र दिव्य प्रकाश है; इस प्रकाश को एकांत जड़वादी-मनुष्यरूपघुंआ नहीं देखे तो इसमें अध्यात्म-ज्ञान का दोष नही है, किन्तु उसकी दृष्टि का दोष है, अध्यात्मशास्त्रों के प्रकाश में वास्तव में दिव्य पुरुष रह सकते है और उनको दिव्य दृष्टि विकसित होती है; इसलिए अध्यात्मशास्त्र पढ़ने योग्य हैं और वारंवार अध्यात्मशास्त्रगत भावों का मनन करना योग्य है।

अध्यात्मशास्त्र वारंवार चितवन करने योग्य हैं अध्यात्म-ज्ञानियो को उनका अर्थ किसी योग्य पुरुप को देना चाहिए। दुनिया में अध्यात्मज्ञान के समान कोई अन्य हितकारो नही है। श्रीमद् यशोविजयजी को ज्ञान पर अत्यंत राग था। द्रव्यानु-योग में सदा उनका मन रमण करता था। द्रव्यानुयोग के चितवन को वे अन्तरक्रिया मानकर उसमे रमण करते थे। वे ज्ञान को उत्तमता के सम्वंध में कहते है कि—

वाह्यकिया छे वाहिरयोग, अंतरक्रिया द्रव्यअनुयोग।
वाह्यहीन पण ज्ञान विशाल, भलो कह्यो मुनि उपदेशमाल॥
(उपदेशमाला)

गाथा

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावंतो।
नयदुक्करं करिंतो सुठ्ठु वि अप्पागमो पुरिसो॥४२३॥
(उपदेशमाला)

जो जाणइ अरिहंते, दव्वगुणपज्जवतेहि ।
सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाहि तस्स लय ॥
(प्रवचन सारोद्धार)

चरण करणप्पहाणा—ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरण करणस्स सार, णिच्छय सुद्ध न याणंति ॥(सम्मतितर्क)
अप्पनाणेण मुणी होई न मुणीअरण्णवासेण ॥(उत्तराध्ययन)

इत्यादि साक्षियो को देखते हुए अध्यात्मज्ञान की, सब तरह के शास्त्रो मे श्रेष्ठता अनुभव की जाती है और उससे मुक्ति का पूर्णानुभव प्रकट होता है, ऐसा अनुभव होता है ।

तत्वज्ञान विना विद्या-तपस्या शमवर्जिता ।
तीर्थयात्रा मन स्थैर्य वन्ध्या वन्ध्येवकामिनी ॥
प्राणिहन्ति क्षणार्धेन,साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्र-तपसा जन्मकोटिभि ॥
(पार्श्वचरिते)

तत्त्वज्ञान अर्थात् बिना अध्यात्मज्ञान वाली विद्या निष्फल है । समता बिना की तपस्या भी निष्फल है । मन की स्थिरता बिना की तीर्थयात्रा वन्ध्या स्त्री की तरह फलदायक नहीं होती । अध्यात्मज्ञानी समता के कारण क्षण मे जितने कर्म नष्ट करता है उतने अज्ञानी करोडो जन्मो मे नष्ट नहीं कर सकता । अध्यात्मज्ञानी ससाररूपी नदी के सामने प्रवाह मे बहता है । जैसे चित्रावेल, नदी के सामने प्रवाह मे बहती है ।

कहा है कि—

भवोद्दामप्रवाहेण, वाह्यन्ते सर्वजन्तव ।
प्रतिस्रोतो गमी कोऽपि, कृष्णचित्रकमूलवत् ॥
(पार्श्वचरिते)

भव के उद्दाम प्रवाह में सर्व जीव वहते हैं, परन्तु संसार के सामने के प्रवाह में कृष्णचित्रक जड़ की तरह कोई ज्ञानी पुरुष ही होता है वह बह सकता है। जैनागमज्ञाता अप्रमादी मुनिवर संसार के सामने के प्रवाह में तैरता है और मोक्षनगरी मे प्रवेश करता है। चित्रावेल की परीक्षा पानी में डालने से होती है। नदी के जल प्रवाह के सामने वह जाती है। लोक किंवदन्ती ऐसी है कि उस पर रखा घृत का घड़ा यदि खाली हो तो वह भर जाता है। कृष्णचित्रकमूल के जैसे आत्मतत्त्वज्ञाता मुनिवर होते है, वे दुनिया के प्रवाह में डूबते नही है। **रागद्वेष के प्रवाह के सामने वहते हैं और रागद्वेष को दूर करते हैं।** वस्तुतः अध्यात्मज्ञान विना ऐसी अपूर्व शक्ति और कहीं संभव नही हो सकती। **अध्यात्मज्ञान चित्रावेल के समान है।** अध्यात्मज्ञान को भाव चित्रावेल समझना, आत्मा के शुद्धस्वरूप में रमण करना, यही सत्य-मोक्षमार्ग है इस सम्बंध में निम्न प्रकार बताया है।

निच्छयमग्गो मुक्खो ववहारो पुण्णकारणो वुत्तो।
पढमो संवररूवो आसवहेउ तओ बीओ।

(आगमसागरगतगाथायां)

निश्चय मार्ग ही मोक्ष मार्ग है; व्यवहार है, वह पुण्य का कारण है। निश्चयनय है वह संवररूप है और व्यवहारनय है वह आश्रवहेतुरूप है। व्यवहारनय आदर करने योग्य है परन्तु **निश्चयनय को साध्य दृष्टि रखकर व्यवहार से प्रवृत्ति करना।** आत्मा सम्बन्धी श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि का कथन निम्न प्रकार है।

यः परमात्मा परंज्योतः परमः परमेष्ठिनाम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तादामनन्ति यम ॥१॥

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूला क्लेशपादपा ।।
(वीतरागस्तोत्रे)

नयभगपमार्णोहि—जो अप्पा सायवायभावेण ।
जाणइ मोक्खसरूव, सम्मदिठ्ठीओ सो नेओ ।।
(आगमसारगलगाथाय)

आत्मा के शुद्ध स्वरूप सम्बन्धी अनेक शास्त्रो मे विवेचना मिलती है। सातनय और सप्तभगी पूर्वक स्याद्वाद दृष्टि से आत्मा के स्वरूप को समझते है वे मोक्षस्वरूप को जानते है, और उन्हे सम्यग्दृष्टि समझना। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने वाला मनुष्य सम्यक्त्व प्राप्त करता है। स्याद्वाद भाव से आत्मतत्त्व को समझना अति दुर्लभ है। अध्यात्मज्ञानमय आगमो का बहुत वर्षों तक अभ्यास करने से अध्यात्मज्ञान मे परिणति होती है, इसलिए बाल जीवो को गीतार्थ मुनिवरो की सेवा कर आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। गुरु की आज्ञा के अनुसार करने से अध्यात्म का अनुभव होता है। सिद्धान्तो के ज्ञाता ऐसे अनुभवी गुरु की सेवा से अध्यात्मज्ञान मिलता है, तत्सम्बधी श्रीमद् उपाध्याय निम्न प्रकार कहते हैं।

ते कारण गुरुचरणआधीन-समय समय इण योगे लीन ।।
साधु जे किरियाव्यवहार-तेहिज श्रम मोटो आधार ।।
(द्रव्यगुणपर्यायरास)

इसकी प्राप्ति के लिए गुरुचरणो मे रहकर समय समय पर अध्यात्मद्रव्यानुयोग मे लीन होना चाहिए।।श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय अपनी तप गच्छ की मर्यादा मे रहकर गुरु

की आज्ञा के अनुसार रहकर अध्यात्मज्ञान में मस्त हुए थे। वे स्वयं कहते हैं कि—साधु की क्रिया का आधार ही हमारा बड़ा आधार है। इससे भव्य बंधुओं को यह समझना है कि, व्यवहार मार्ग का भावपूर्वक बाह्य से अनुसरणकर अंतर में निश्चय दृष्टि से स्व स्वरूप में रमण करना। द्रव्यानुयोग के ज्ञाता सब गीतार्थों में महागीतार्थ हैं। द्रव्यानुयोग को जानते है वे सम्यग् अध्यात्मज्ञान को समझते हैं। द्रव्यानुयोग ज्ञान से हर एक दर्शन वाले आत्मा को किस तरह मानते हैं और वे किस नय की अपेक्षा से सत्य हैं वा उनमें किस अपेक्षा के विना भूल रहती है यह वे जानते हैं इसलिए द्रव्यानुयोग ज्ञान में गहरे उतरकर अध्यात्मज्ञान में स्थिर होना यही सम्यग्ज्ञान का सम्यग् उपाय है। आत्मतत्त्व की स्याद्वादभाव से प्रतीति होना यह सम्यग्दर्शन है और आत्मा के शुद्धधर्म की प्राप्ति और उसमें स्थिरता यही वस्तुतः चारित्र गिना जाता है। भव्यजीवों को अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन ज्ञान की आराधना करना। ज्ञान की आराधना करने से आत्मा के गुण प्रकट करने की रुचि होगी। हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक होगा। ज्ञान से भरतादि संसार समुद्र से पार हो गये। श्रीमद् उपाध्याय हृदय के सरसोद्गाररूप ज्ञान माहात्म्य का रस निम्न पदो में उतारते है।

पद सडसठवां

(राग आशावरी)

चेतन मोहको संगनिवारो, ज्ञान सुधारस धारो ॥ चेतन ॥१॥
मोह महातम मल दूरेरे, धरे सुमति परकास ॥
मुक्तिपन्थ परगट करेरे-दीपक ज्ञानविलास ॥ चेतन ॥२॥

ज्ञानी ज्ञानमगन रहेरे, रागादिक मल खोय ॥
चित उदास करणी करेरे, कर्मबन्ध रे नहि कोय ॥ चेतन ॥३॥
लीन भयो व्यवहारमेरे, युक्ति न उपजे कोय ॥
दीन भयो प्रभुपद जपेरे, मुगति कहाँसे होय ॥ चेतन ॥४॥
प्रभु समरो पूजो पढोरे, करो विविध व्यवहार ॥
मोक्षस्वरूपी आतमारे, ज्ञानगमन निरधार ॥ चेतन ॥५॥
ज्ञानकला घटघट वसे रे, जोग जुगतिके पार ॥
निजनिज कला उद्योत करे रे,मुगति होय ससार ॥ चेतन ॥६॥
बहुविध क्रियाक्लेशसु रे, शिवपद न लहे कोय ॥
ज्ञानकला परकाससो, सहज मोक्षपद होय ॥ चेतन ॥७॥
अनुभवचिंतामणिरतन, जाके हइए परकास ॥
सो पुनित शिवपद लहेरे-देहे चतुर्गति वास ॥ चेतन ॥८॥
महिमा सम्यग्ज्ञानकी-अरुचि रागबल जोय ॥
क्रिया करत फल भुजते-कर्मबन्ध नहि होय ॥ चेतन ॥९॥
भेदज्ञान तब लो भलो-जब लो मुक्ति न होय ॥
परमज्योति परगट जिहा-तिहा विकल्प नहि कोय ॥चेतन॥१०॥
भेदज्ञान साधु भयो समरस निर्मल नीर ॥
धोबी अतर आतमा-धोवे निजगुण चीर ॥चेतन॥११॥
राग विरोध विमोह मलोरे-एहि आश्रव मूल ॥
एहि करम बढायके-करे धर्मको भूल ॥चेतन॥१२॥
ज्ञानस्वरूपी आत्मा-करे ज्ञान नहि ओर ॥
द्रव्यकर्म चेतन करे रे-यह व्यवहारको दोर ॥चेतन॥१३॥
कर्ता परिणामी द्रव्य छे रे कर्मरूप परिणाम ॥
किरिया परजयकी फिरे रे-वस्तु एक त्रय नाम ॥चेतन॥१४॥
कर्ता कर्म क्रिया करे-क्रिया कर्म करतार ॥
नामभेद बहुविध भये रे-वस्तु एक निरधार ॥चेतन॥१५॥

एक कर्म कर्तव्यता-करे न करता दोय ॥
तेसें जस सत्तासधि-एकभावको होय ॥चेतन॥१६॥

ज्ञान की महत्ता सम्बंधी इस प्रकार स्व-समय और पर-समय में अनेक साक्षियां मौजूद हैं। उनका यहां विस्तार किया जाय तो एक अलग ही पुस्तक वन जाय। दिगम्वर शास्त्रों में भी अध्यात्मज्ञान सम्वंधी वर्णन है। श्री वीरप्रभु की पट्ट परंपरा में सुविहित आचार्यों द्वारा प्रवर्तते श्वेताम्वर जैन शास्त्रों में व्यवहार और निश्चय की शैली जैसी सरसता से वर्णन की गई है वैसी अन्य जगह नहीं मिलती। जैन श्वेताम्वर मान्य आगमों में अध्यात्मज्ञान का कथन इस तरह किया गया है कि—जिससे कोई भी मनुष्य व्यवहार और निश्चय इन दो नय से भृष्ट न हों और जैन शासन की सदा उन्नति हुआ करे।

अध्यात्मज्ञान की वर्तमान दुनिया में कितनी अधिक आवश्यकता है और अध्यात्मज्ञान से जगत् को कितना बड़ा लाभ होता है यह उपरोक्त विचारों से सुज्ञ वाचक समझ सकेंगे। अध्यात्मज्ञान प्राप्ति से श्रावक के व्रतों वा साधु के व्रतों से मोक्षमार्ग की आराधना की जा सकती है। श्रावक के गुण और साधु के गुण वास्तव में अध्यात्मज्ञान से आत्मा में प्रकट होते है। ऊपर ऊपर के गुणस्थानक भूमि में प्रवेश करने से आत्मा का वीर्योल्लास वढता है और आत्मा, अपने शुद्धधर्म में विचरण करती है।

अध्यात्मज्ञान से रजोगुण और तमोगुणरूप मोह की वृत्ति को दूर करते हुए अपने शुद्ध धर्म में आत्मा स्वयं खेलता है और संवरभाव में दृढ़ रहकर समय-समय पर पूर्व संचित कर्मों की

निर्जरा करता है। अध्यात्मज्ञान से आत्मा अपने शुद्ध धर्म से अन्य भाव को दूर करने का प्रयत्न करता है।

अध्यात्मज्ञान से कारण सामग्री के योग से कोई भव्य जीव अल्पभाव मे मुक्ति पद प्राप्त करता है। वज्रऋषभसहन का स्वामी कोई भव्य जीव पूर्ण सामग्री योग से अध्यात्म मे विचरता हुआ उसी भव मे मुक्तिपद प्राप्त करता है।

अध्यात्मज्ञान से वैराग्यभाव जाग्रत होता है और उससे बाह्य तथा अभ्यनर तप की आराधना अच्छी तरह की जा सकती है, तथा सम्पूर्ण जीवो के साथ क्षमापना की जा सकती है, और षडावश्यक की आराधना अच्छी तरह की जा सकती है। वैराग्य बिना त्याग टिक नही सकता और अध्यात्मज्ञान बिना सच्चा वैराग्य हृदय मे जाग्रत नही हो सकता। उपशम, सवर और विवेक से मुक्तिपद प्राप्त होता है। अध्यात्मज्ञान बिना उपशमभाव धारण नही किया जा सकता। अध्यात्मज्ञान मे भूतकाल मे अनेक जीव शुद्धाध्यवसाय धारण कर मुक्त हुए है। वर्तमान काल मे महाविदेह क्षेत्र मे अध्यात्मज्ञान से अनेक जीव मुक्ति पद प्राप्त करते है और भविष्य मे अनेक जीव मुक्ति पद प्राप्त करेंगे। "अध्यात्मज्ञान से तीन चार या सात आठ भव मे जीव मुक्ति पद प्राप्त कर सकता है।" एक अध्यात्मज्ञान गुण प्राप्त होने पर अन्य गुण अपने आप आत्मा मे प्रकट हो जाते है। आत्मा के पर्यायो की शुद्धि ही परमात्म-दशा कहलाती है। जैसे सब पदार्थों का आधार आकाश है वैसे सपूर्ण गुणो का आधार अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान से आत्मा मे गुणो का आविर्भाव होता है, ऐसी निश्चय श्रद्धा रखकर भव्यजीवो को अध्यात्मज्ञान की आराधना करना चाहिए।

अध्यात्मज्ञान के नाम से कितने ही लोग आजीविकावृत्ति चलाकर स्वार्थ सिद्ध करते हैं ऐसे ढोंगी अध्यात्मियों से सावधान रहना चाहिए। अध्यात्म नाम की पुकार करनेवाले बहुत हैं परन्तु अध्यात्मज्ञान के गहरे प्रदेश में विचरण करने वाले विरले ही होते हैं। अध्यात्मज्ञान के श्लोक-पद आदि बोलकर व पढ़कर जो अपना उदर निर्वाह करते है उन्हें अध्यात्मज्ञान का दुरुपयोग करने वाले जानना ! अध्यात्मज्ञान के अभ्यास के समय हृदय में अध्यात्मज्ञान नही परिणते जिससे जीवों में एकदम गुण नही दिखाई देते इससे किसी की निंदा नही करना। कितने ही लोगों की ओर से अध्यात्मज्ञानियों की निंदा सम्बन्धी निम्न प्रकार श्लोकार्धचरण सुनने में आता है।

"कलावध्यात्मिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा"

कलियुग में फाल्गुन माह में जिस तरह बालक शोभा देते हैं उस तरह अध्यात्मी शोभा देते है। जो लोग इस तरह कहकर अध्यात्मज्ञानियों की एक ही आवाज से बिना जाने निंदा करते हैं वे भूल करते हैं। उनके सामने कितने ही अध्यात्मज्ञानी इस तरह कहते है :—

"कलौ क्रियाजड़ा भान्ति फाल्गुने बालका यथा"

कलियुग में क्रिया से एकांत जड़ बने मनुष्य फाल्गुन माह में बालकों के क्रिया की चेष्टा की तरह शोभा देते हैं।

इस तरह परस्पर एक दूसरे पर आक्षेप करने से आत्मा का कल्याण नही होता। अध्यात्मज्ञान और सत्क्रिया इन दोनों से मुक्ति होती है।

'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग '

इत्यादि सूत्रो द्वारा अनेकातवाद की सिद्धि होती है। अनेकातवादी जैन होते हैं और वे कभी एकातवाद मे नही पडते । अध्यात्मज्ञान के शास्त्र, ये अध्यात्मज्ञान से, मुख्यतया मोक्षमार्ग बताते हैं और गौणरूप से क्रिया की आवश्यकता स्वीकार करते है। क्रिया प्रतिपादक शास्त्र मुख्यतया क्रिया से मोक्ष बताते हैं, परन्तु अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता को गौण-रूप से स्वीकार करते हैं। **जिस समय अध्यात्मज्ञान का वर्णन किया जावे उस समय अध्यात्मज्ञान का मुख्यतया वर्णन करना ऐसा नियम होने से यहा अध्यात्मज्ञान की मुख्यता के विषय मे उसी तरह वर्णन किया गया है,** ऐसे शास्त्र पर श्रद्धा करने वाले जिज्ञासु सहज ही समझ सकते हैं।

वास्तव मे स्वतन्त्र होने की इच्छा हो तो अध्यात्मज्ञान की आराधना करने की जरूरत है। सब प्रकार की परतन्त्रता की बेडियो को तोडकर सत्य स्वतत्र सुख को देने वाला अध्यात्मज्ञान है, उस सम्बन्ध मे उपाध्यायजी कहते हैं कि—

सर्वं परवश दु ख, सर्वमात्मवश सुखम् ।
एतदुक्त समासेन, लक्षण सुखदु खयो ॥१॥
नाह पुद्गलभावाना, कर्ता कारयिता न च ।
नानुमन्तापि चेत्यात्म-ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥२॥
(अध्यात्मोपनिषद्)

रागद्वेष से परवस्तुओ के वश मे रहना यही दु ख है। परवस्तुओ मे अद्वृत्ति की आसक्ति मे बधना यही दु ख है, पाचो इद्रियो के विषयो मे आसक्ति से बध जाने से मनुष्य अतर की बेटी मे पडता है और वह अतर मे दुखी रहता है।

परपुद्गलवस्तुओं के आधीन होने से कभी कोई सुखी नही नहीं हुआ है। एक परमाणु के भी अधीन रहने से आत्मा का खरा सुख प्रगट नहीं होता। चारों तरफ लाखों वस्तुएँ हों और पुद्गल में आत्मा रहे फिर भी पुद्गल में आसक्तिभाव से जो नहीं बंधता उसे परवशत्व प्राप्त नहीं होता। कल्पित शुभ वस्तुओं में इष्ट भाव धारण करने से और मन की मान्यता से कल्पित अशुभ वस्तुतों में अनिष्ट कल्पना होने से परवशत्व प्राप्त होता है। जो मनुष्य जड़ पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट कल्पना से बंधकर भी उसमें परवश नहीं होता वह मनुष्य इस संसार में जीवन मुक्त की कोटि में प्रवेश करने में समर्थ होता है। अध्यात्मज्ञानी परवशता के बंधनों को दूर करता है और अध्यवसायों का नाश कर शुद्ध धर्म प्रकटाता है। अध्यात्मज्ञानी अपने में परवशता की बेड़ी की कल्पना नहीं करता और जिससे दुखी भी नही होता। जो मनुष्य परवश रहता है उसे स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता। जिसके वश में रहता है वे वस्तुएं वास्तव में आत्मा की कीमत आंकने में समर्थ नहीं होती और वरन् उन वस्तुओं की ममता से आत्मा की आनंद-दशा आच्छादित होती है; ऐसी स्थिति समझने के बाद कौन-सा ज्ञानी परवशता में रहने की इच्छा करेगा? अलबत्ता कोई ज्ञानी परवशतारूप दुःखोपाधि प्राप्त करने की इच्छा नही करता। अज्ञानी मनुष्य सुख की बुद्धि से परवस्तु की परवशता में फंसकर अन्त में व्याकुल होता है और निराशायुक्त उद्गारों से दूसरों को अपनी भ्रांतदशा का चरित्र बताता है। दुनिया में अन्त वक्त में निराशा-परवशता और दुःख के उद्गार बाहर निकालकर मरने वालों ने जीने वालों को अपना अनुभव बताया है, तथापि दुनिया की आंख नहीं खुलती, और बेकार-तुच्छ

वस्तुओ की ममता और उनकी आसक्ति कर दुनिया गुलाम बनकर-सुख की बात पागल की तरह बताते हैं। दुनिया मे हरएक मनुष्य को अमुक वस्तुओ की शरीरादि सरक्षण के लिए जरूरत रहती है और जिससे उन्हे प्राप्त करना पडता है, परन्तु इससे यह नही मान लेना चाहिए कि, उन वस्तुओ मे ही सुख है वा उनके आधीन स्वय को रहना ही चाहिए। क्या परजड वस्तुओ के आधीन आत्मा को रहना चाहिए ? परवस्तुओ के आधीन होने से यदि सुख होता हो तो मूढ जीवो को विशेषत सुख होना चाहिए, परन्तु ऐसा दीखता नही है। अतएव-अनाशक्ति भाव से मनुष्यो को परवशता की बेडी तोडकर आत्मा मे ही सहज सुख मानकर, स्वय को स्वय के ही आधीन रहना चाहिए। अपने को स्ववशता मे सुख मालूम होता है और उसकी साक्षी अपना हृदय देता है। तब अपने को किसलिए दुनिया को सत्यमार्ग नही बताना चाहिए ? अलबत्ता बताना चाहिए। प्रवृत्तिमार्ग के उपासक बनकर दुनिया के लोग ऐश आराम भोगने की वस्तुओ को बढाते हैं और रात-दिन गधे का भार उठाने की वृत्ति को धारण करते हैं, फिर भी उन्हे वास्तविक सुख प्राप्त नही होता और कुदरत के नियमो को तोड़कर गाडरिया प्रवाह मे पडकर दूसरो को भी उनमे डालते हैं। ज्ञानी पुरुष ऐसी उनकी दशा देखकर उन्हे वास्तविक स्वतत्रता बताने और उसे प्राप्त करने का उपाय बताते हैं। बाह्य दशा से भी देखा जाता है कि, स्वतत्र प्रजा आगे बढती जाती है और लालसा से परवस्तुओ के आधीन होने वाली प्रजा सच्ची स्वतत्रता को समझने मे शक्तिमान नही हो सकती।

सच्ची स्वतत्रता मे तो आत्मा अपने ही आधीन होती है, और उसमे आनद के सिवाय दूसरी कोई वात दीखती न

अनुभव नहीं होती। बाहर की स्वतंत्रता और आत्मा की वास्तविक स्वतन्त्रता में आकाश पाताल जितना अन्तर है। बहुत पुत्र, बहुत स्त्रियां, बहुत धन. सत्ता और पदवियों के मायिक अलंकारों आदि की प्राप्ति से सच्ची स्वतंत्रता की गंध भी प्राप्त नही होती।

इंद्रियों तथा शरीर के आधीन रहकर इंद्रियों और शरीर के द्वारा सुख लेने के विचार और आचारों में स्वतन्त्रता नही है। स्वाभाविक सुख इंद्रियों-मन और शरीर के आधीन नहीं है, और वह देह तथा इंद्रिय सेवकों की दृष्टि में आता भी नही है। स्वाभाविक आनंदरस की धारा का अमृत जहा बहता है उसमें, और उनके आधीन जो रहते हैं वे दुनिया की बाह्य दृष्टि से ऊंघते हुए भी अंतर से जाग्रत होकर सुखरूप स्वयं को देखते हैं, और सुख के भोक्ता स्वयं बनते हैं। स्थूल बुद्धि धारक मनुष्यो की बुद्धि वास्तव मे ऐसे स्ववशता के उच्च प्रदेश में प्रवेश नही कर सकती और जिससे उसे रुपये-पैसे के खेल जैसी बाह्य वस्तुओ मे परवशता में सुख भोगने का मन होता है, और वह अंतर से उसीमें आसक्त होकर अपने शुद्ध प्राण से जीवित रहने में समर्थ नही हो सकता। बाह्य श्रृंगारादि रसों में मग्न लोग बाह्य रसो के भोगी बनकर परवश बनते है, और भ्रमणा से यह समझते है कि हम स्वतंत्र बन रहे है। माता से अलग रहने का विचार किया, पिता की आधीनता छोड़ी, अलग घर और अलग दुकान कर पुत्र ऐसा समझता है कि मैं पिता से अलग होकर स्वतत्र हो गया। परंतु जैसे जैसे वह उपाधि के आधीन होता जाता है वैसे-वैसे उसे मालूम पड़ता है कि मैं परतंत्र होता जा रहा हूं। आवश्यक वस्तुओं से अधिक वस्तुओं की तृष्णा बढ़ने से मनुष्य, प्रवृत्ति की राह

पर चढकर सन्निपात की दशा जैसी अपनी दशा करता है और जिससे दक्ष होते हुए भी विकल जैसा होकर परतन्त्र हो जाता है। ऐसी परतन्त्रता को टालना हो तो अध्यात्मज्ञान को हृदय मे उतारने के लिए यथाशक्य उपाय करे और फिर स्वय विवेक दृष्टि से सच्ची स्वतन्त्रता का विचार कर सकेगा।

आत्मा के वश होना यही सुख का लक्षण है, ऐसा एक बार सिंह गर्जना से बोलो और आत्मा के वश मे रहने के लिए श्रद्धा से प्रयत्न करो, कि जिससे अपने आप सुख का सागर दिखाई देगा। आत्मवश होना हो तो प्रथम ऐश-आराम के लिए कल्पित वस्तुओ मे होने वाली आसक्ति को विष की तरह छोडो, और बाह्य वस्तुओ के मिलने या न मिलने मे मेरा इसमे कुछ आता नही या जाता नही ऐसा दृढ निश्चय रखो, यानी आत्मवश होने लायक बन सकोगे। इन्द्रियो द्वारा गृहित विषयो मे से मैं और मेरा ऐसा प्रत्यय होता है उसे छोड दो यानी आत्मवश होने मे अधिकारी बन सकोगे। देह की चेष्टाओं मे सुखत्व बुद्धि का त्याग कर एक आत्मा को सुख का भडाररूप मानकर उसके रसिक बनो यानी आत्मवशता के द्वार पर आकर खडे रहोगे। जो-जो वस्तुयें इष्ट लगती हो और उनके लिए आसक्ति के कीडे जैसी आत्मा बनती हो तो, उन-उन वस्तुओं मे कल्पित इष्टत्व छोड दो। यानी आत्मवशता के आसन पर बैठने मे शक्तिमान बनोगे। बाह्य पदार्थ देखते व भोगते हुए भी उनमे मैं और मुखत्व जो मोह मे होता है उसे हटा दो यानी स्ववशता को अपने मे स्थापित कर स्वय परमात्मदेव बनने योग्य हो सकोगे। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा का जन्म व मरण नही है ऐसा दृढ विश्वास रखकर आत्मा मे ही आत्मभाव रखकर जन्म

मरण की अपेक्षा विना व्यवहार करो, देखो और बोलो यानी अपनी वास्तविक आत्मवशता का ख्याल आवेगा। किसी भी जड़ वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रतिबंध रखे विना व्यवहार किया जाता है यानी आत्मवशता की अलौकिकता का अनुभव होता ही है। आत्मवशता के गहरे अनुभव में उतरना हो तो बाह्य रूप में मैं नहीं हूं और बाह्य द्रव्य जो भी है वे मैं नहीं हूं ऐसा दिव्य भाव विकसित करो। आत्मवशता से सहजसुख का भान रहता है और दुःख का विपाक दूर रहता है। आत्मवशता प्राप्त करनी हो तो सब प्रकार की वासनाओं को ज्ञानाग्निरूप यज्ञ मे जलाकर भस्म करनी पड़ती है। शुभ और अशुभ वासनाओं से अपना ममत्व और जीवत्व दूर कर दो यानी आत्मवशता क्या है इसका ख़याल स्वयं ही आयगा। अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की पहली कुंजी यह है कि—आत्मा को आत्मद्रव्यरूप में ही देखना और उसमें जड़ का सम्बंध होने पर भी जड़ को अलग ही देखना। मैं आत्मा हूं और मैं मेरी क्रिया करता हूँ और जड़वस्तु, वास्तव में जड़ की क्रिया करता है; इस प्रकार भेदज्ञान दृष्टि की सिद्धि कर आत्मा और आत्मा के गुणों का अभेदता से चिंतन करना। आत्मा और आत्मा के गुणों की एक्यभाव से आत्मा में ही रमणता करने से और पुद्गल का सम्बंध होने पर भी पौद्गलिक अहंवृत्ति नहीं मानने से आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता झलक उठती है। ऐसी सत्यात्मवशता की झांकी का अनुभव करने वाले महात्मा दुनिया में रहते हुए भी दुनिया से निर्लेप रहते है। कांसी के बर्तन और कमल के पत्ते को जैसे जल का लेप नहीं लगता वैसे सच्ची आत्मवशता के सुखभोगियों को लेप नही लगता। बाहर से मनुष्य कभी सच्चा स्वतत्र नही

बन सकता। बाह्य से शरीर मे रहता हुआ भी अतर से आत्म-वश प्राप्त करने वाला ज्ञानी सहज सुख की खुमारी का सदा भोक्ता बनता है। आत्मा की सत्यात्मवशता समझने से एक तरह की अलमस्तदशा प्राप्त होती है, और जिससे उसके मन, वाणी और काया की स्वतत्र चेष्टाए दुनिया को अलग नजर आती है, अथवा उसकी बाल चेष्टाए सिर्फ भोग्य प्रारब्ध से होती है फिर भी अतर से उसे चेष्टाओ मे भी अहत्वाभिमान नही रहता है। ज्ञानी की बाल चेष्टाओ मे भी आत्मवशता की किरण प्रकाशित होती मालूम पडती है। ऐसे आत्मवशी ज्ञानियो की दशा को पहिचानने मे विद्वान भी भूल कर जाता है। अध्यात्मज्ञान तीनो जगत् मे डुगडुगी बजाकर कहता है कि—हे दुनिया के लोगो! तुमको सच्ची आत्मवशता का सुख प्राप्त करना हो तो मेरी सेवा करो। मेरी उपासना यदि श्रद्धापूर्वक की जायगी तो आत्मा की सच्ची स्वतत्रता का सुख प्राप्त कर सकोगे। परवश यह दु ख और आत्मवश यह सुख, इस तरह सुख-दुख के लक्षण को समझकर आत्मा मे सत्य स्वसत्ता प्रगटाना चाहिए, और यही अध्यात्मज्ञानियो का जीवन कर्तव्य है।

आत्मवशता से मनुष्य सतोषी बनता है और दुनिया के अर्थ यार्थ अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग कर सकता है। आत्मवशता ही सुखमय जीवन है यह समझने के बाद, कौनसा मनुष्य अनेक प्राणियो का नाश हो ऐसे व्यापार द्वारा अशाति का वातावरण फैलाने का प्रयत्न करेगा? आत्मवशतारूप सच्चारित्र का इतना अधिक बल है कि जैसे जल पर तारा तैर सकता है वैसे स्वय उपाधि के ऊपर रह सकता है, अर्थात् उपाधि के नीचे वह नही दबता। स्टीमर समुद्र में पूरे वेग से

चली जाती है परन्तु जल को कुछ हानि नहीं होती. वैसे **ज्ञानी आत्मवशतारूप स्टीमर से संसार समुद्र के राग-द्वेष के कल्लोलों पर होकर मुक्तिनगरी की तरफ चले जाते हैं।**

दुःख का मूलभूत परवशता और सुख का मूलभूत स्ववशता का स्वरूप समझकर अपने को सच्ची स्ववशता प्राप्त करना चाहिए। सच्ची स्ववशता प्राप्त करने के लिए आगमों को आगे कर प्रयत्न करो। आगमों के आधार पर सच्ची स्ववशता प्राप्त करने का प्रयत्न करना जरूरी है। रागद्वेष योग से विकल्प-संकल्प के परवशपन मे जो जीवन व्यतीत करते हैं वे राजाओं के राजा और इन्द्र हों फिर भी सच्ची स्ववशता को प्राप्त नही कर सकते; ऐसा कहे तो किसी बात का विरोध नही होगा। आत्मवश होने के उपायों का प्रतिक्षण अभ्यास करने की जरूरत है। जिस जिस समय जो जो कार्य किए जावें उस उस समय वे वे कार्य करते हुए मैं आत्मवश हूँ परन्तु परवश नही होता, ऐसा दृढ सकंल्प करना तथा परवशवृत्ति चलती हो तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना। बाह्य बंधन आशक्ति बिना आत्मा को बांधने मे समर्थ नही होते मै आत्मा हूँ, परभाव यह मेरा धर्म नहीं है, स्वभाव ही मेरा धर्म है। परभावरूप परतंत्रता मै नही चाहता और उससे मै अलग हूँ, मेरा ऐसा प्रयोजन नही है, ऐसा शुद्ध भाव धारण कर अधिकारपूर्ण कार्य करने से अंतर में तीव्र संक्लेश नही होता और क्षण क्षण मे आत्मा के परिणाम की अनंतगुणी शुद्धि होती है। शुभाशुभ परिणाम से रहित और शुद्धाध्यवसाय में विचरती ऐसी आत्मा, अपनी सच्ची स्वतंत्रता का भोक्ता बनता है। —**उपयोगे धर्म, परिणामे बंध** और **क्रियाए कर्म**—इन तीन कहावतों का गुरुगमपूर्वक अनुभव प्राप्त किया जावे तो

आत्मा के परिणाम की शुद्धि द्वारा स्वयवशता प्राप्त करने मे सच्चा उत्साह प्रकट हो सकता है। आत्मा के परिणाम की जैसे जैसे शुद्धता होती जाती है वैसे वैसे बहुत से कर्मों से आत्मा मुक्त होता जाता है। उस भव मे सिद्ध होनेवाले जीवो को सत्ता मे अत सागरोपम कोटि कोटि स्थितिवाला कर्म का सद्भाव है। उक्तच—विशेषावश्यके ॥ तद्भवसिद्धिकानामप नियमेन सत्तायामन्त सागरोपम कोटिकोटि-स्थितकस्य कर्मण सद्भावात्। तद्भवसिद्धिकस्यापि सत्तायाममख्येयभवार्जितकर्मण सद्भवात् ॥ जिस भव मे सिद्धि पाने वाले जीव को भी सत्ता मे असख्यात भवार्जित कर्म का सद्भाव है। इतने अधिक असख्य भव के उपार्जित कर्म को आत्मार्थी ध्यानी, आत्मा के शुद्धाध्यवसाय द्वारा खपाकर मुक्त होता है।

आत्मा का शुद्धाध्यवसाय यही आत्मा की सच्ची स्वयशता है। आत्मा के शुद्धाध्यवसाय से अष्टकर्म का उपक्रम होता है। दीर्घकाल भोगने योग कर्म को भी आत्मा वास्तव मे उपक्रमयोग से स्वल्पकाल मे प्रदेशोदय से भोग लेता है, अध्यात्म योग मे आत्मा क्षण क्षण मे अपने परिणाम की शुद्धि करता है और उसमे उत्तरोत्तर गुणस्थानक प्राप्त करता है। जैसे जैसे तीव्र सकलेश दूर होते जाते है वैसे वैसे उत्तरोत्तर गुणस्थानक प्राप्त होता जाता है। तीव्र सकलश जैसे जैसे मद होता जाता है वैसे वैसे अशुभकर्म का रस मद पडता है और शुभकर्म का उत्कृष्ट रस पैदा होता है। चित्त मे मोह की प्रबलता से तीव्र सकलेश प्रकट होता है। तीव्र सकलेश की मन्दता जैसे जैसे होती है वैसे वैसे कम मे आत्मा हलका होता जाता है। जैसे जैसे आत्मा का शुद्ध परिणाम वृद्धि पाता है वसे वैसे आत्मा की सच्ची स्वयशता का अनुभवानन्द प्रकट

होता है और वह वेदने में आता है। पांचवे कर्मग्रंथ में श्रीमद् देवेन्द्रसूरिजी तीव्र संकलेश और आत्मा के अध्यवसाय की शुद्धि संम्बंधी ऐसा सरस विवेचन करते है कि, जिसका मनन करने से आत्मा के सम्बंध में किस तरह व्यवहार करना और कर्म को किस तरह हटाना यह स्पष्ट हो जाता है। चौथे गुणस्थानक से भी पांचवे गुणस्थानक में आत्मा के परिणाम की अनंतगुणी विशुद्धि होती है, और पांचवे गुणस्थानक से भी छठे गुणस्थानक में कषाय की मंदता से आत्मा के परिणाम की अनंतगुणी विशुद्धि होती है। छठे से भी सातवें गुणस्थानक में कषाय की विशेष मंदता से आत्मा के परिणाम की अनंतगुणी विशुद्धता प्रगट होती है। इस तरह ऊपर के गुणस्थानकों में स्वगुणस्थानक की अपेक्षा से ऊपर के गुणस्थानकों में अनंतगुणी विशुद्धता प्रगट होती है ऐसा समझना। जैसे जैसे तीव्र संकलेश दूर होता जाता है और आत्मा के अध्यवसाय की शुद्धि होती जाती है वैसे वैसे पाप प्रकृतियों का वंध दूर होता जाता है और शुभ प्रकृतियों का वंध पड़ता जाता है और पूर्व में वांधे अनंत कर्मो की निर्जरा होती है। कषायों की मंदता जैसे जैसे होती है वैसे वैसे आत्मा की शुद्धि होती जाती है। युगलिक मनुष्य कषायों की मंदता से देवलोक में जाते हैं। इससे अनुभव होता है कि, **कषाय की क्षीणता करने में ही चारित्र का सच्चा रहस्य समाविष्ट है।** चौथे गुणस्थानक वाले जीव देशविरति परिणाम से श्रावक के वाहर व्रत अंगीकार करता है। चौथे गुणस्थानक का अध्यात्मज्ञान देशविरति वाले पांचवे गुणस्थानका अध्यात्मज्ञान वास्तव में चारित्र की अपेक्षा से विशेष शुद्ध जानना। पांचवे देशविरति श्रावक व्रत से भी छठे गुणस्थानक वाला सर्वविरति अर्थात् पंचमहाव्रतधारक

साधु का अनतगुणा विशुद्ध अध्यात्मज्ञान समझना। देशविरतिधर गृहस्थ श्रावको को जैन शास्त्रो मे गुरु नहीं माना जाता, इसका कारण यह है कि पचमहाव्रत धारण किये बिना चारित्र धर्म का अनुभव उन्हे नहीं हो सकता। गृहस्थावास मे छकाय का भोगी गृहस्थ गुरुपद के योग्य नही हो सकता। छठे गुणस्थानक मे पाचवे गुणस्थानक से भी अनतगुणी विशुद्धि की अपेक्षा से स्ववशता समझना। जैसे-जैसे आत्मा के परिणाम की विशुद्धि होती है वैसे-वैसे स्ववशता और सुख भी प्रगट होता जाता है, ऐसा अनेकातज्ञानियो को समझना।

आत्मा के परिणाम की विशुद्धता धारक मुनिवरो की सगति से सत्यस्ववशता और स्ववशता के सुख की खुमारी की झाकी मालूम होती है। बाह्य और अतरचारित्र के धारक मुनिवरो की देशना मे सत्य सुख का भाव झलक उठता है। व्यवहार से चारित्र लेकर बाह्योपाधि से मुक्त हुए मुनिवर अध्यात्मरस मे लीन होकर अध्यात्मरस का आस्वादन करते है। जिससे वे बीते काल को नहीं जानते, अर्थात् आनन्द में उनका जीवन व्यतीत होता है, जिस्से उनको काल का ध्यान नही रहता। अध्यात्मज्ञान तो हो सकता है, परन्तु अध्यात्मज्ञान को आचार मे लाकर उसके पात्रभूत बनने वाले महापुरुष तो विरले ही मिलते हैं। जानने वाले तो बहुत मिल जायेगे, परन्तु अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर उस तरह चलने वाले विरले ही मिलेंगे। जो अध्यात्मज्ञानी अध्यात्मज्ञान को आचार मे लाकर नही बोलते हुए भी अन्य मनुष्यो पर अध्यात्मज्ञान की जो असर डाल सकते हैं वह असर, वास्तव मे सद्वर्तन बिना अध्यात्मज्ञानी रात-दिन भाषण देकर भी नही डाल सकता,

अध्यात्मज्ञान का असर वास्तव में मुनिवर-व्रतों का पालन कर और आत्मा का ध्यान कर दूसरों पर डाल सकते हैं वैसा गृहस्थ नहीं कर सकते। **जो मोहमाया में फंसकर अध्यात्मज्ञान का स्वस्वार्थ के लिए उपयोग करते हैं उन्हें ब्रह्मराक्षस के समान समझना।** अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर साधु होकर जो आत्मा की आराधना करते हैं, ऐसे मुनिराज इस जगत् में अध्यात्मज्ञान का झरना बहाने में समर्थ होते है। अध्यात्मज्ञान की मूर्तिरूप मुनिराजों की सेवा करने से अध्यात्मज्ञान का आत्मा में परिणमन होता है।

व्रतों के साथ अध्यात्मभावना हो तो आत्मा में अध्यात्मज्ञान वास्तविक रूप में परिणमता है। बाईस परिषह सहन करते समय स्वर्ण रस की तरह अध्यात्मरस की शुद्धि होती है; इसलिए चारित्र के साथ अध्यात्मज्ञान शोभा देता है। योद्धा के मुंह से युद्धरस के जो शब्द निकलते है और उसमें जो वीर-रस झलकता है वह नाटक करने वाले के मुह से निकले वचनों में कहां से आ सकते हैं? सती स्त्री के मुंह से पति-भक्तिरस के जो वचन निकलते है और उनमें जो दिव्यत्व होता है, वैसा दिव्यत्व वास्तविक सती स्त्री का वेष लेकर आनेवाली नाटिका के हृदय से नही निकल सकता। करुणारस, हास्यरस और भयरस के जो स्वाभाविक पात्र बने हों उनसे जैसा नाटककर रस प्रगटाने में कृत्रिमता मालूम हुए बिना नहीं रहती। इस पर से समझना है कि अध्यात्ममय जिसका मन, वाणी और काया हुई हो और जो अध्यात्मरस के हृदय में से स्वाभाविक उद्‌गार निकालता हो, ऐसा पात्र ही वास्तव में दुनिया में अध्यात्मज्ञान का विद्युत की तरह प्रकाश करने में समर्थ होता है। जिसके रोम रोम में अध्यात्मज्ञान भर गया हो और जिसकी रग-रग

मे मानो अध्यात्मरस समा गया हो ऐसी जिसकी दशा हो उस महापुरुष के सहवास मे, उसके उपदेश से, उसके कार्य से और उसकी चेष्टा से अध्यात्मज्ञान का उपदेश मिला करता है, अर्थात् उसकी चाहे जैसी प्रासगिक चेष्टा से अध्यात्मज्ञान का बोध मिला करता है, ऐसे जो कोई मुनिवर हो उनके द्वारा अध्यात्मज्ञान का पुनर्जीवन होता है, अर्थात् कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे अध्यात्मज्ञानी मुनिवर के द्वारा अध्यात्म का दुनिया मे पुनरुद्धार होता है। ऐसे मुनिवरो की अध्यात्मज्ञान फैलाने के लिए आवश्यकता होती है।

जब जब जैनधर्म पालने वालो मे एकान्त जड क्रियावाद का गाडरिया प्रवाह बढ जाता है और आत्मा के ज्ञान को दबा दिया जाता है उस वक्त अध्यात्मज्ञान के अभाव मे जैनो मे रागद्वेष का जोर बढना शुरू होता है। धर्म क्रियाओ मे मत-मतान्तर पडते हैं। और लोग कषाय की उदीरणा कर धमाधम करते है। ऐसे समय अध्यात्मज्ञानरूप पुष्करावत मेघ द्वारा जगत् मे शीतलता फैलाने वाले अध्यात्मज्ञानी प्रकट होते हैं। और वे अध्यात्मबोधरूप मेघ की वृष्टि कर जैन धर्म पालन करने वालो को शाति देते हैं। जब जब जैन धर्म पालने वाले जैनो मे अधिकतर शुष्क ज्ञान बढता जाता है और ज्ञान के प्रमाण मे आचार नही होता है तब शुद्ध सवेग धर्म पालने वाले क्रियायोगी मुनिवर प्रकट होते हैं और वे शुष्क ज्ञानियो को हटा देते हैं। और शिथिलाचार का नाश कर—क्रियोद्धार कर जैन शासन की रक्षा करते है। जिस तरह ज्ञान मार्ग मे शुष्कता आना सभव है उस तरह क्रियामार्ग मे, अर्थात् धर्म के अनुष्ठानो मे शिथिलता आना सभव है। जब अध्यात्मज्ञान को गौणपद दिया जाता है तब शुष्कक्रियाजडवाद होने के हेतु प्राप्त होते

हैं और जिससे तीक्ष्ण वैराग्य प्रवाह हृदय में पैदा नहीं होता। अध्यात्मज्ञान भी कई वर्षो के परिशिलन बिना परिपक्व नहीं होता; जिससे अध्यात्मज्ञान में परिपक्वानुभव प्राप्त किये बिना शुष्कता प्राप्त होने का प्रसंग आता है। प्रायः दो शताब्दि के अंतर से अध्यात्मज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग का उद्धार करने वाले मुनिवर प्रकट होते हैं। आचार्य श्री के हाथ से क्रियोद्धार होता है। मुनिचंद्रसूरि, जगच्चंद्रसूरि, आनंदविमलसूरि आदि मुनियों ने क्रिया की शिथिलता को हटाने में जो उत्तम चारित्र का पालन किया है उसका खयाल करना महा कठिन है। क्रियोद्धार करने की जब जरूरत होती है तब (उस काल में) चारों तरफ क्रियोद्धार की आवाज सुनाई देती है और उस समय में वैसी उत्तम सामग्रीधारक आचार्य प्रकट होते है। अठारहवीं शताब्दि में आचार्यों ने स्वयं खास क्रियोद्धार नहीं किया, परन्तु तपागच्छ विजयशाखा में पन्यास श्री सत्यविजयजी ने क्रियोद्धार किया है। वे विजयसिंहसूरि और श्री विजयप्रभसूरि की आज्ञा में थे। अठारहवीं सदी में बड़े बड़े विद्वान् साधु बहुत थे, जिससे उस समय में ज्ञान की ज्योति चरम सीमा पर थी, किन्तु अध्यात्मज्ञान की तरफ साधुओं का विशेष लक्ष नहीं था। तथा क्रिया में भी शिथिलता आगई थी और आचार्यगीतार्थो में प्रायः थोड़ी शिथिलता तथा गच्छक्लेश से संकुचितता, आदि दोष प्रकट हो गये थे। उस समय मुख्यतया अध्यात्मज्ञान मार्ग के उद्धारक रूप में श्रीमद् आनंदघनजी और ज्ञानक्रिया मार्ग के उद्धारक रूप में उपाध्याय श्री यशोविजयजी प्रकट हुए थे।
